श्री मती कुन्दनदेवी जीबाई व्योहार

* श्रीअभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतमाम् *

श्रीकैलासविद्यालोकस्य त्रयश्चत्वारिंशः सोपानः

वेदान्तरत्नाकरः

प्रणेता

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यमहामण्डलेश्वर-
विद्यावाचस्पति अनन्तश्री-

स्वामी विष्णुदेवानन्दगिरिजीमहाराजः

सानुवादव्याख्याकारः

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यमहामण्डलेश्वर अनन्तश्री-

स्वामी चैतन्यगिरिजी (शास्त्रीजी) महाराजः

* * *

॥ ॐ ॥

❀ श्रीग्रभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतमाम ❀

श्रीकैलासविद्यालोकस्य त्रयश्चत्वारिंशः सोपानः

वेदान्तरत्नाकरः

प्रणेता :

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यमहामण्डलेश्वर-
विद्यावाचस्पति ग्रनन्तश्री-

स्वामी विष्णुदेवानन्दगिरिजीमहाराजः

सानुवादव्याख्याकारः

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यमहामण्डलेश्वर ग्रनन्तश्री-

स्वामी चैतन्यगिरिजी (शास्त्रीजी) महाराजः

* * *

सम्पादकः

सर्वदर्शनशास्त्री, वेदान्ताचार्यः

ब्रह्मचारी रामानन्दः

प्रकाशक :

कैलास विद्या प्रकाशन

सर्वाधिकार: प्रकाशकाधीन:

प्रथमावृति: — १०००

द्वितीयावृति: — १२००

तृतीयावृतिः — २०००

चतुर्थावृतिः — ३०००

विक्रमी सम्वत् २०४२ (सन् १९८५) मूल्य : ८ रुपये

ग्रन्थप्राप्ति स्थान—

श्री कैलास आश्रम, मुनिकीरेती, ऋषिकेश–२४९२०१

श्री दशनाम संन्यास आश्रम, भूपतवाला, हरिद्वार–२४९४०१

श्री कैलास आश्रम, उजेली, उत्तरकाशी–२४९१९३

श्री राम आश्रम, सामानामण्डी, पटियाल–१४७१०१

श्री कैलास आश्रम, कैलास आश्रम मार्ग, माडल टाउन, रोहतक।

५३/१७ श्री राधाकृष्ण मन्दिर, पुराना राजेन्द्रनगर,

नई दिल्ली–११००६०

मुद्रक :—

कैलास विद्या प्रेस, ब्रह्मानन्द आश्रम

मुनिकीरेती, ऋषिकेश (उ०प्र०)

ॐ

प्रस्तावना

दिशन्तु शं मे गुरुपादपांसवः

परमात्मा के निर्विशेष एवं सविशेष दो रूप हैं। इनमें निर्विशेष रूप माया एवं उसके समस्त कार्य अखिल भूमण्डलमें सत्तास्फूर्ति प्रदान करते हुए सबको उज्जीवित कर रहा है। जहाँ कहीं भी अस्ति, भाति, प्रिय, अंश प्रतीत होते हैं वे सबके सब निर्विशेष ब्रह्म के ही सत्ता, चिद्रूपता एवं आनन्दरूपता उद्भासित हो रही है; क्योंकि माया और उसके कार्यमें अपनी सत्तादि नहीं है। इस प्रकार निर्विशेष ब्रह्म माया एवं उसके कार्यमें अनुगत प्रतीत होता है। किन्तु उससे विशेष कार्य नहीं हो सकता। विशेष कार्य तो सविशेष ब्रह्मसे ही होता है। इनमें निर्विशेष ब्रह्मका निरूपण "नेति नेति" वाक्य द्वारा श्रुतिने किया है। किन्तु सविशेष ब्रह्मका निरूपण उसकी विशेष विभूतियों के प्रतिपादन द्वारा श्रुतिने किया है। सविशेष ब्रह्म की विभूति की इयत्ता नहीं है। अतएव गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने प्रधानरूपसे कुछ विभूतियोंका वर्णन कर अन्तमें "यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छत्वं मम तेजोंऽशसंभवम्।" इस वाक्यसे अपनी विभूतियोंकी अनन्तताका ही निरूपण किया है। तदनुसार देव, दानव एवं मानवमें जो कुछ भी विभूति एवं ऐश्वय भासते हैं वे सब परमेश्वर के ही हैं किसी-किसी व्यक्तिमें परमेश्वरकी विशेष विभूतिका अवतरण उनकी कृपासे ही होता है और परमेश्वर

कृपाका असाधारणकारण उसकी आराधना है, जिसके फलस्वरूप अनुकम्पित हो परमात्मा उसमें अपनी विशेष विभूतियोंका अवतरण करा देता है। शारीरसौष्ठव, धनादि ऐश्वर्य, बुद्धिप्रावण्य इत्यादि मनुष्य जीवनमें ऐश्वर्य माने जाते हैं, जो कहीं-कहीं पर विशेष रूपसे दिखाई पड़ते हैं। सृष्टिके आरम्भ से लेकर अद्यावधि अबाधित रूपसे उपर्युक्त विभूति अवतरण क्रम दीख पड़ता है। नारायणसे लेकर आद्यशंकराचार्य पर्यन्त ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, परोपकारनिरतत्व चरम सीमापर दिखाई पड़ते हैं। इन सबका समग्र जीवन लोकोपकारके लिए ही रहा है। इसी परम्परामें उत्तराखण्ड हिमालयके उपत्यका ऋषिकेशमें कैलास आश्रमकी स्थापना हुई। इसके संस्थापक आचार्य महामण्डलेश्वर अनन्तश्री स्वामी धनराज गिरिजी महाराजसे लेकर सभी आचार्य उसी शाङ्करी परम्परा से अनुप्राणित रहे हैं।

ग्रन्थकारका संक्षिप्त परिचय

ब्रह्मविद्यापीठ कैलास आश्रमकी आचार्य परम्परामें विद्यावाचस्पति आचार्य महामण्डलेश्वर अनन्तश्री स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरिजी महाराज षष्ठ पीठाचार्य हो गये हैं, जिन्हें लोग श्रीबड़े महाराज जी नामसे सम्बोधित किया करते थे। सौराष्ट्रके वैष्णव ब्राह्मण परिवारमें आपका प्रादुर्भाव हुआ। बाल्यावस्थासे ही भजन, संकीर्तन एवं शास्त्र चिन्तनमें आपकी अत्यधिक रुचि थी। पूर्वाश्रममें आपका नाम विष्णुदास हरियाणी था। पिता जी एव ज्येष्ठ भ्राताकी अनुमतिसे आप अध्ययन निमित्तको लेकर बड़ौदा गए और वहाँसे सुरभारती की क्रीड़ास्थली वाराणसी पहुँचे; जहाँ पर व्याकरण, साहित्य एवं दर्शन विषयसे तीन बार आपने संपूर्ण मध्यमा परीक्षा

दे डाली; जिससे प्रारम्भिक ज्ञान सुदृढ़ हो गया। इन विषयोंके विशेष अध्ययन अभिलाषाको लेकर आप ऋषिकेशस्थ कैलास आश्रम में पहुँचे। उस समय वहाँके आचार्य पीठ पर महामण्डलेश्वरअनन्तश्री स्वामी जनार्दन गिरिजी महाराज विराजमान थे। कैलास आश्रममें दीक्षित हो आपने लघुप्रस्थानत्रयी का अध्ययन श्री स्वामी गोविन्दानन्द गिरि जी महाराज से तथा बृहत्-प्रस्थानत्रयी का अध्ययन विद्यानिधि श्री स्वामी प्रकाशानन्द पुरी जी महाराज से किया। इन दोनों गुरुजनों ने अपने जीवन के संजोये समग्र विद्याधन का उत्तराधिकारी आपको ही समझा। इसके फलस्वरूप आप अपने समय के असाधारण विद्वान् माने जाने लगे। स्वामी गोविन्दानन्द गिरिजी महाराज ने आपकी असाधारण प्रतिभा को देखकर विद्यावाचस्पति नाम से आपको सम्बोधित करने लगे। निःसन्देह आजके विश्वविद्यालयसे प्राप्त विद्यावाचस्पतित्व उपाधि की अपेक्षा कहीं अधिक शास्त्र में गति आपकी रही, जिसे तत्कालीन सभी विद्वज्जन मानते थे। अध्यापन एवं प्रवचन क्षेत्र में भी आपकी क्षमता असाधारण देखी गयी। इसके अतिरिक्त संगीतशास्त्र, कर्कश तर्क-शास्त्र और काव्य-रचना में भी आप सक्षम रहे। प्रायशः इन सभी विषयों का समावेश एकत्र नहीं दीखता है। संगीत-शास्त्रका विद्वान् तर्क शास्त्रमें निपुण नहीं होता और तर्क-शास्त्रका विद्वान् संगीत से अनभिज्ञ पाया जाता है। किन्तु सरस्वतीके वरद-पुत्र आपमें इन सभीका समावेश निर्बाधरूपसे दीखता है। इनके अतिरिक्त वैराग्य एवं ब्रह्मनिष्ठा भी आपमें उत्कृष्ट दिखायी पड़ते हैं। कैलास आश्रमसे सम्बन्धित आपके जीवनको चार भागोंमें विभक्त कर देखा जा सकता है। (१) विद्यार्थी जीवन

(२) प्रौढ विद्वान् जीवन (३) पीठाचार्य जीवन (४) पीठके दायित्वको छोड़कर जीवन्मुक्त दशा। इन सभी अवस्थाओंमें आप अनुपम रहे हैं। पीठाचार्य पदभारको छोड़कर १२ वर्ष पर्यन्त उत्तरकाशीस्थ कैलास आश्रममें रहकर जीवन्मुक्तिके विलक्षण आनन्दका रसास्वादन आपने किया। फलतः आपकी जीवनके अन्तिम दिनोंमें जिस सौभाग्यशाली व्यक्तिने आपका दर्शन किया है, वह धन्यवादका पात्र है। हमें तो ऐसे प्रतीत होते थे कि मानो आप ब्रह्मनिष्ठाके विग्रहवान् मूर्ति हैं। वेदान्तका श्रवण, मनन, निदिध्यासनके पश्चात् तत्त्वसाक्षात्कार होता है एवं तदनन्तर भूमिका परिपक्व होती है, जिसके फलस्वरूप उस तत्त्वनिष्ठ महापुरुषके मुखमण्डल पर उसकी निष्ठा की प्रतिमा स्पष्ट उद्भासित होती है। अन्तिम दिनों आपके दर्शकों ने इसी रूपमें आपको देखा। आपसे ब्रह्मविद्या प्राप्तकर अनेकों यति एवं सद्-गृहस्थ-जनोंने अपने जीवनको ही धन्य नहीं बनाया अपितु ब्रह्मविद्याके संरक्षण एवं प्रचारमें उनकी अनुपम भूमिका देखी गयी। उनमेंसे बहुतोंने महामण्डलेश्वर एवं आचार्यपद को भी सुशोभित किया।

आपने अपने गुरुजनोंसे जो कुछ भी ज्ञान प्राप्त किया था, उसे मुक्त भावसे आजीवन वितरित करते रहे, इतना ही नहीं अपने चिन्तनोंसे वेदान्त जगत् को एक नयी दिशा भी दी है, जो आपकी अधीत पुस्तकों को देखने पर स्पष्ट प्रतीत होता है। दशोपनिषद्-शांकरभाष्य-आनन्द गिरि टीका के ऊपर आपकी लिखी हुई टिप्पणियाँ इसके उदाहरण हैं, जिनका प्रकाशन कैलास आश्रम शताब्दी प्रसंग पर हो चुका है। छन्दोबद्ध अनेकों रचनायें भी आपके हैं, जिनमें अन्यतम रचना वेदान्तरत्नाकर है। जिसपर श्रद्धेय महामण्डलेश्वर श्री स्वामी

चैतन्य गिरि जी महाराज की हिन्दी व्याख्या भी है। इससे पूर्व इस वेदान्तरत्नाकर की तीन आवृत्तियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं।

कैलास आश्रम ब्रह्मविद्या-पीठ पर जब हमें अभिषिक्त किया जा रहा था, तब आप श्रीने अपने आशीर्वचनोंमें कैलास आश्रम का सक्षिप्त परिचय एवं आवश्यता का दिग्-दर्शन कराया था, आपने कहा कि "कैलास आश्रम प्राचीन संस्था है, जिसे लगभग ९० वर्ष होने जा रहे हैं। कोई भी प्राचीन संस्था हो उसका जीर्णोद्धार होना ही चाहिए", बस इतना कहकर आप चुप हो गये। हमने आपके उपर्युक्त सूत्रवाक्यों की व्याख्या करना अपने समग्र कार्यकालमें निश्चित कर लिया। जिसके फलस्वरूप कैलास आश्रम एवं इसके शाखा आश्रमोंका जीर्णोद्धार, पुनर्निर्माण, सम्बर्धन, साहित्य प्रकाशन एवं विद्वानोंका निर्माणकार्य सम्मिलित हो गये। उसी समय कैलास आश्रमकी शताब्दीके साथ आपकी जन्म शताब्दी मनानेका भाव भी मेरे मनमें उत्पन्न हुआ था पर कुछ ही वर्षों के बाद जब आप ब्रह्मलीन हो गए तो आपकी जन्म शताब्दीका संकल्प हमारे मनमें अवरुद्ध हो गया और केवल कैलास आश्रम की शताब्दी मनानेका संकल्प उद्बुद्ध हुआ। फलतः सन् १९८० ई० में राष्ट्रीय-स्तर पर कैलास आश्रमका शताब्दी समारोह सानन्द सकुशल सम्पन्न हुआ, जिसे कैलास आश्रम शताब्दी स्मारिका को पढ़कर एवं उसकी मूवी फिल्मको देखकर आज भी लोग स्मरण कर सकते हैं। तत्पश्चात् विद्वानोंको तैयार करना ही हमारा मुख्य कार्यक्रम होना चाहिए था, किन्तु कैलास आश्रमके हितचिन्तक कुछ सहृदय सन्तों एवं भक्तोंने आपकी जन्म शताब्दी मनानेके लिए हमारे

मनमें सुषुप्त संकल्पको जगादिया। फलतः आपके जन्म-शताब्दी महोत्सव मनानेका निर्णय लेना पड़ा, किन्तु इस महोत्सवको भी आपके उपर्युक्त सूत्र-वाक्यकी व्याख्याके रूप में ही हमने मनानेका निश्चय किया।

कैलास आश्रमकी स्थापनासे लेकर कैलास आश्रममें हमारे आने तक जो कुछ भी निर्माण एवं विकास कार्य हुए थे, उनमें भक्तोंके लिए पर्याप्त सौविध्य मिल चुका था, किन्तु सन्तों एवं भविष्णु साधु-छात्रोंके लिए पूर्वकी भाँति स्थिति बनी रही, जिसे आपके जन्म-शताब्दी प्रसङ्गको लेकर कुछ पूर्ण करने का संकल्प हमारे मनमें उत्पन्न हुआ। फलतः आप श्रीकी पुण्यस्मृतिमें ऋषिकेशस्थ कैलास आश्रमके अन्तर्गत विष्णुधाम-का निर्माण हुआ जो अध्ययनशील भविष्णु साधु-छात्रोंका छात्रावास माना जाता है। जिसके कुछ नियम अपने आपमें अपूर्व ही होंगे। इस नवनिर्मित विष्णुधाममें आपकी दिव्य प्रतिमाकी स्थापना हो चुकी है। आशा है इसमें निवास करने वाले साधु-छात्र आपके पदचिह्नों पर चलकर एवं आशीर्वाद प्राप्त कर आपके समान ही वैराग्य तथा ब्रह्मनिष्ठासे सम्पन्न होकर अपने जीवन को कृतार्थ करेंगे।

प्रस्तुत वेदान्तरत्नाकर ग्रन्थमें वैराग्य, ज्ञान एवं भक्तिका अनुपम संमिश्रण पाया जाता है, जिसकी चतुर्थ आवृत्ति आपके जन्म-शताब्दी प्रसंग पर प्रकाशित होने जा रही है। जब भी वेदान्तरत्नाकरका स्वाध्याय एवं प्रवचन हमने किया, तो इसकी अनुपम रचनाको देख और सुनकर पाठकों और श्रोताओं की ओर से अत्यधिक माँग आने लगी, जिसके फलस्वरूप यह चतुर्थ संस्करण पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है। पूर्व संस्करणोंकी अपेक्षा इस संस्करणमें

प्रस्तावना व्याज से वेदान्तरत्नाकरके रचयिताका संक्षिप्त परिचय, कैलास आश्रम ब्रह्मविद्यापीठका संक्षिप्त परिचय और इसके भावी कार्यक्रमका भी संक्षिप्त उल्लेख किया गया है, जिस आगामी कार्यक्रमकी सफलता कैलास आश्रमके अधिष्ठातृ देव अभिनवचन्द्रेश्वर भगवान्की असीमानुकम्पा एवं आप-पूर्वाचार्योंके अनेक आशीर्वाद पर आधारित है। हमें पूर्ण विश्वास है कि अन्य कार्योंकी भाँति शेष कार्य भी पूज्य श्रीबड़े महाराजजी के उपर्युक्त सूत्र-वाक्य की व्याख्याके रूपमें पूर्ण होकर रहेगा। इसी विश्वासको लेकर हम अपनी प्रस्तावना लेखनीको विराम दे रहे हैं।

इस चतुर्थ आवृत्तिके सम्पादनमें परमोत्साही, व्यवहार-कुशल वेदान्ताचार्य ब्रह्मचारी श्री रामानन्द जी शास्त्री ने अथक परिश्रम किया है, जिसके फलस्वरूप अतिशीघ्र यह संस्करण पाठकोंके समक्ष हम उपस्थित कर पाये हैं। एतदर्थ ब्रह्मचारी रामानन्द जी शास्त्री एवं इनके सहयोगियोंकी हम भूरिशः मंगलकामना करते हैं। इत्यों शम्।

भगवत्पादीयः
महामण्डलेश्वर
स्वामी विद्यानन्द गिरि

मिथुन संक्रान्ति
वि० संवत् २०४२

ॐ

जटाधृतोत्तुङ्गतरङ्गगङ्गं
सद्यः कृतानङ्गपतङ्गभङ्गम् ।
भुजङ्गसङ्गं श्रितशैलशृङ्गं
सदाशिवं नौमि सदाशिवाङ्गम् ॥१॥

त्रिविधतापविघातसुधासरः
प्रबलमोहतमोह्रदहस्करः ।
स्वजनचित्तचकोरनिशाकरो
जयति देशिकराजधुरन्धरः ॥२॥

नानातर्कसमुच्छलन्मणिगणव्याप्तो गभीरो महान्
क्वायं प्रौढमतिप्रपोतसुतरो वेदान्तरत्नाकरः ॥
स्वल्पग्रन्थसरोऽवगाहनविधावप्याकुला सन्ततं
सच्छिद्राऽल्पतरीर्निसर्गतरला क्वेयं मनीषा मम ॥३॥

तथापि सम्प्राप्य गुरोः प्रसादं
भवामि शक्तो विवृतावमुष्य ॥
न सूर्यकान्तो रवितेजसेद्धो
न दारुवारं प्रदहेददाहः ॥४॥

———

वैराग्यपञ्चकम्

शिलं किमनलं भवेदनलमौदरं बाधितुम् ।
पयः प्रसृतिपूरकं किमु न धारकं सारसम् ॥
अयत्नमलमल्पकं पथि पटच्चरं कच्चरम् ।
भजन्ति विबुधा मुधा अहह कुक्षितः कुक्षितः ॥१॥

दुरीश्वरद्वारबहिर्वितर्दिका-
दुरासिकायैरचितोऽयमञ्जलिः ॥
यदञ्जनाभं निरपायमस्ति नो
धनंजयस्यन्दनभूषणं धनम् ॥२॥

काचाय नीचं कमनीयवाचा
मोचाफलस्वादमुचा न याचे ॥
दयाकुचेले धनदत्कुचेले
स्थिते कुचेले श्रितमाकुचेले ॥३॥

क्षोणीकोणशतांशपालनखलद्दुर्वारगर्वानल–
क्षुभ्यत्क्षुद्रनरेन्द्रचाटुरचनां धन्यां न मन्यामहे ।
देवं सेवितुमेव निश्चिनुमहे योऽसौ दयालुः पुरा
धानामुष्टिमुचे कुचेलमुनये धत्ते स्म वित्तेशताम् ॥४॥

शरीरपतनावधि प्रभुनिषेवणापादना–
दबिन्धनधनञ्जयप्रशमदं धनं दन्धनम् ॥
धनञ्जयविवर्धनं धनमुदूढगोवर्धनं
सुसाधनमबाधनं सुमनसां समाराधनम् ॥५॥

———

गुरुषट्कम्

यत्पादाम्भोजसेवासुरसिकमनसो नातिकालेन शिष्याः
संख्यातीताः समेत्यानुपमसुखमयं शाश्वतं ब्रह्मतत्त्वम् ।
याताः पारं भवाब्धेर्जनिमृतिरहितं, श्रीडचभिक्षवीशविष्णु-
देवानन्दं नुमस्तं कलिमलहतये ज्ञानसौख्यैकमूर्तिम् ।१॥

दृष्ट्वा तापत्रयातान् करुणितहृदयः प्राणिनः क्रन्दमानान्
त्रातुं तान् दुःखदावाग्निरवधिसुखदब्रह्मविद्योपदेशैः ।
योऽयं भातीव शंभुर्धृतमनुजतनुः श्रीडचभिक्षवीशविष्णु-
देवानन्दं नुमस्तं कलिमलहतये ज्ञानसौख्यैकमूर्तिम् ॥२॥

यद्ध्वान्तं वासरेशोऽपरिमितकिरणैः प्राभवन्नो विहन्तुं
हृत्स्थं मोहेति वित्तं यदुदितवचनैस्तूर्णमुन्मूलितं तत् ।
इंतीभव्रातपाते मृगपतिरिव यः श्रीडचभिक्षवीशविष्णु-
देवानन्दं नुमस्तं कलिमलहतये ज्ञानसौख्यैकमूर्तिम् ॥३॥

शान्तिक्षान्तिप्रमुख्यान् श्रुतिगदितगुणानेकदेहे मनुष्याः
द्रष्टुं शक्ताः यथा स्युः सफलयितुमितीमां समीहां विरिञ्चिः ।
दध्रे यां मानवीयां तनुमतनुगुणां श्रीडचभिक्षवीशविष्णु-
देवानन्देति वित्तां जनिमृतिहृतये भक्तिपूर्वं नुमस्ताम् ॥४॥

यत्पादाम्बुरुहाश्रय श्रितवतां धूनोति तापत्रिकं
आद्यन्तप्रतिवर्जितं सुखमथो स्वान्ते निधत्तेबलात् ।
अज्ञानोन्मददन्तिदारणपटुः कण्ठीरवो यत्सदा
तद्भक्त्या गुरुनामकं परतरं ज्योतिर्नमस्कुर्महे ॥५॥

यत्कारुण्यतरीं प्रपद्य कृतिभिर्लभ्यामलभ्यां परैः
तीर्णा मोहमहाब्धिमन्तविधुरं मोदामहे सन्ततम् ।
सोऽयं ज्ञानसुखैकमूर्तिरखिलान् स्वीयान्तिकेवासिनः
पायान्मस्करिवृन्दवन्दितपरः श्रीमद्गुरुर्दुष्कृतात् ॥६॥

वेदान्तरत्नाकर प्रणेता



म.मं. श्रीमत्स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरिजी महाराज

सानुवादव्याख्याकार



म.मं. श्रीमत्स्वामी चैतन्य गिरिजी महाराज

॥ ॐ ॥

वेदान्तरत्नाकर

सानुवाद-व्याख्या

—०—

संसारोरुकरञ्जकाननभुवं चेतोऽम्बुदा गोचरा
बोधार्कं स्वपिधाय सन्ततममी सिञ्चन्ति रागाम्बुभिः ।
जीवोऽयं चिरमत्र घोरगहने भ्राम्यन्नहो ताम्यति,
त्राता कोऽस्य पशोर्ऋते पशुपतेः संसारकान्तारतः ॥१

यह संसार एक अत्यन्त गहन करञ्जवन है, जो चित्तरूपी पृथ्वीमें उत्पन्न होता और फलता-फूलता है। उस चित्तभूमिमें विषयात्मक मेघ ज्ञानसूर्यको ढककर रागरूपी जल बरसाते हैं, जिससे संसार-वनकी पुष्टि होती है। यह जीव अनादि कालसे इस घोर जंगलमें भटकता-भटकता बहुत दुःखी हो रहा है। इस

संसार-काननसे जीवकी रक्षा परमेश्वरके अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता।

तात्पर्य यह है कि संसारका प्रत्येक पदार्थ दुःखमय ही है। किसी-किसी पदार्थमें जो सुखका भान होता है, वह केवल प्रतीति-मात्र ही है। यदि वह पदार्थ सुखमय होता तो कालान्तर, देशान्तर तथा अवस्थान्तरमें उसमें ग्लानि नहीं होनी चाहिये थी, परन्तु ग्लानि होती देखनेमें आती है। इसलिए धनादि पदार्थोंमें सुखदत्व बुद्धि केवल भ्रम है और ऐसा भ्रम होनेका कारण अन्य पदार्थोंमें अधिक दुःखमयत्वकी प्रतीति है। अधिक दुःखकी अपेक्षा स्वल्प दुःख सुखरूप ही होता है। जैसे ज्वरसे पीड़ित अथवा मार्ग चलनेसे थके हुए पुरुषके पैरों को दबाया जाय, तो उसे वह सुखरूप प्रतीत होता है, वैसी ही बात यह भी है। ऐसे इस दुःखमय संसारसे बचनेका उपाय जन्मसे छुटकारा पाना है, क्योंकि शरीर धारण करनेपर कोई दुःखसे नहीं बच सकता। जन्मसे छुटकारा पाना आत्मतत्त्वके साक्षात्कारके विना असम्भव है। श्रुति कहती है 'तरति शोकमात्मवित्' और आत्मज्ञानका कारण ईश्वरभक्ति है। 'मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी' इसलिए संसार दुःखसे बचनेकी कामना वाले पुरुषका कर्तव्य है कि वह परमात्माका ध्यान तथा भजन करता हुआ उसकी शरण में रहे। यही बात भगवान्‌ने गीतामें अर्जुनसे कही है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥१॥

ऊपरके श्लोकमें भगवद्भक्तिको दुःखनिवृत्तिका साधन कहा, परन्तु जिस प्रकार कोई विद्यार्थी खेल-कूदमें आसक्ति रखता हुआ विद्याजन करना चाहे तो वह सर्वथा असम्भव है। उसको यदि सच्चा विद्यार्थी बनना हो तो खेद-कूदको तिलाञ्जलि होदेनी पड़ेगी। इसी प्रकार जो पुरुष सच्चा भगवद्भक्त एवं मुमुक्षु बनना चाहे, उसे भी सांसारिक विषयोंमें रागका सर्वथा त्याग ही करना होगा। अन्यथा वह अपने लक्ष्यको हस्तगत करनेमें कदापि सफल न होगा। यही अगले श्लोकमें प्रतिपादन किया जायेगा।

यावद्रागस्य रेखा विलसति हृदये प्रेयसि क्वापि जन्तो-
र्मन्तोस्तावन्न मुक्तः प्रभवति भवितुं कोऽपि संसारहेतोः।
चेतोऽस्वस्थं च तावद्विषयविषरसोल्लासवैषम्यभावाद्
दावात्तस्माद् भवाभादवितुमभिलषन्स्त्यादवावाऽनुरक्तेः

जबतक मनुष्यके हृदयमें किसी भी प्रिय वस्तुविषयक अनुराग का बिन्दु भी है तबतक सांसारिक दुःखोंके मूल कारण अज्ञानरूप अपराधसे मुक्त नहीं हो सकता और तभीतक विषयोपभोग की इच्छाके तारतम्यसे उसका चित्त अस्थिर रहेगा। इसलिए इस दावानलके सदृश सन्तापजनक संसारसे अपनी रक्षा चाहनेवाले पुरुषको सबसे पहले विषयानुरागको दूर करना चाहिये। रागका अभाव होनेसे चित्त संसारसे हटकर निरन्तर ईश्वरपरायण होता हुआ ज्ञानप्राप्त करके परमपदका अधिकारी होगा, जहाँ से फिर लौटनेका भय नहीं है ॥२॥

जैसे किसी सरोवरमें नलद्वारा रात-दिन जल गिरता रहता हो और उससे वह तड़ाग सर्वदा जलसे भरा रहता हो तो यदि हम उसे जलसे खाली करना चाहें तो हमें दो कार्य करने होंगे। प्रथम तो जल डालनेवाले नलको बन्द करना होगा। फिर किसी पात्रद्वारा तालाबका जल बाहिर फेंकना होगा, तब वह जलसे खाली हो सकेगा। ठीक यही प्रक्रिया चित्तरूपी तड़ागको खाली करने की है। इस चित्त-सरोवरमें अनादि कालसे राग, द्वेष, काम, क्रोध, मोह, लोभकी दुर्वासनारूप जल भरा हुआ है तथा भविष्य-में भी कुसङ्गरूप नलद्वारा इसमें जल आता रहता है। यदि हमें इसे दुर्वासनारूप जलसे खाली करना हो तो पहिले कुसङ्गरूप नलको बन्द करना होगा, फिर विषय-दःषदर्शन और चित्तप्रबोधन आदि पात्रों द्वारा दुर्वासनारूप जलको बाहिर निकालना पड़ेगा। तब कहीं चित्त निर्मल होकर भगवद्भक्तिमें लगेगा, जिससे इस की परमगतिका लाभ होगा। अब अगले श्लोकमें राग क्यों दूर करना चाहिये, यह विषय पूर्वार्द्धमें कहकर उत्तरार्द्धमें राग-निवृत्तिका प्रथम साधन सङ्गत्याग, जो कि नलबन्द करनेके समान है, कहा जायेगा—

रागान्धो नैव पश्येदचिरमुपनमद्दुःखदावौघसङ्गां-
स्तत्रायं को वराकः स्फुरितुमलमहो दीपकाभो विवेकः।
तस्माद्रागोरुपाशे पतनपरवशत्वात्त् पूर्वं यतध्वं
सङ्गत्यागे त्वमीषामयिविबुधवराः शक्यते चेन्नराणाम्॥

जब कि रागान्ध पुरुष शीघ्रप्राप्त होनेवाले दुःखरूपी दावानलके समूहोंको भी नहीं देख सकता तब उसके चित्त में दीपशिखाके समान अतिदुर्बल विवेकको अवकाश कैसे मिल सकता है अर्थात् विवेकोत्पत्तिमें राग-प्रतिबन्धक है और प्रतिबन्धकहीन साधनानुष्ठान कार्यसिद्धिका हेतु होता है, इसलिए विवेकोत्पत्तिके साधनका विधान करनेसे पहले प्रतिबन्धकीभूत रागका परिहार करनेकी आवश्यकता है । अब वह राग कैसे दूर हो यह बात श्लोकके उत्तरार्द्धसे कहते हैं; क्योंकि रागके होते हुए विवेककी प्राप्ति असम्भव है। इसलिए हे बुद्धिमान् पुरुषो ! इस रागात्मक विशाल जालमें फँसनेसे पूर्व इन रागान्ध पुरुषोंके सङ्गत्यागकेलिए प्रयत्न करो ॥३॥

पहले चित्त-सरको खाली करनेके दो उपाय बतलाये गये थे— एक नलबन्द करनेके सदृश कुसङ्गत्याग और दूसरा पात्रसे बाहिर जल फेंकनेके समान विषयदोषदर्शन आदि। उन दोनोंमें कुसङ्गत्यागरूप साधन गत श्लोकमें कह चुके हैं। अब यद्यपि दूसरा साधन कहनेका अवसर था, परन्तु उसे न कहकर उससे पहले साधकों को तिरस्कार-वचन सुनाकर उत्तेजित करना अच्छा है, जिससे कि वे आगे बताये जाने वाले साधनके अनुष्ठानमें अत्यन्त उत्साहके साथ प्रवृत्त हों। जिस प्रकार लाठी या पत्थरके आघातसे सर्प उत्तेजित होकर फन उठाता है, वैसे ही अपने लिये अयोग्य वाक्य सुनकर साधकों का प्रोत्साहित होना अत्यन्त सम्भव है।

जानन्नप्येष जन्तुर्विषयपरिणतिं नीरसां भूरिदुःखां
हातुं नैषामभीप्सत्यहह परिचितेः प्राणनत्राणतोऽपि ।
वाच्यं किं पामराणामनधिगतपरमार्थेष्वनेकेषु सत्सु,
सेयं देदीप्यमाना जगति विजयते वैष्णवी मोहमाया ॥४

यह प्राणी विषयभोगके परिणामको अत्यन्त फीका और दुःखमय जानता हुआ भी विषयोंमें इतना अनुरक्त है कि उन्हें भोगते-भोगते प्राण त्याग करनेको भी तैयार रहता है, परन्तु उन्हें छोड़ना नहीं चाहता । यह दशा अपठित मूर्ख पुरुषोंकी ही नहीं है, प्रत्युत जो शास्त्रज्ञ और अपनेको पण्डित मानने वाले हैं वे भी इसी मोह-जालमें फसे हुए देखे जाते हैं ।

भाव यह है कि पतङ्ग दीपशिखामें गिरकर भस्म हो जाता है, परन्तु गिरनेसे पूर्व उसे इस बातका ज्ञान नहीं होता कि दीपक उसे भस्म कर देगा । इसी प्रकार मत्स्य मांस खाकर अपने आप-को जालमें फँसा लेता है, परन्तु वह भी इस बातको नहीं जानता कि मांसभक्षण उसके जालमें फंसनेका हेतु है । ये दोनों प्राणी अज्ञानके कारण ही मृत्युके मुखमें प्रवेश करते हैं, परन्तु यह मनुष्य ऐसा विचित्र जीव है, जो जानता हुआ भी दु.खसे बचने का यत्न नहीं करता, उलटा उसमें गिरनेको तैयार रहता है । इसलिए यह मत्स्य और पतङ्गादिकी अपेक्षा भी अत्यन्त निकृष्ट है । धिक्कार है इसके मनुष्यत्वको और न्यक्कार है इसकी बुद्धि को ॥४॥

इस प्रकार तिरस्कार-वचन सुनकर जब साधक लात खाये हुए सर्पके समान प्रोत्साहित होकर साधनानुष्ठानके लिए प्रस्तुत हुआ तो उसके प्रति अग्रिम श्लोकसे चित्त प्रबोधन-रूप साधन का उपदेश करते हैं:—

क्वायं हन्ताभिलाषोऽचलदमृतपदे सर्ववैराग्यसाध्ये
क्वेदं चात्यन्तगर्ह्यं विषयविषरसे पानलौल्यं मनस्ते।
कस्मादेवं विरोधे सति समधिगते चेष्टमानं सदा त्वं
मन्दाक्षं मन्द नायास्यधमपथमिहाश्रित्य यायात् क उच्चैः

ऐ मेरे चित्त ! बड़े खेदका विषय है कि इच्छा तो तुम उस अचल और अमृत पदकी रखते हो जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके विषयों में वैराग्य होनेसे प्राप्त हो सकता है और प्रवृत्ति तुम्हारी अत्यन्त निन्दनीय विषयरूपी विषमय रसके पीनेमें हो रही है । इस प्रकारका विरोध जानते हुए भी ऐसी विपरीत चेष्टा करनेमें तुमको लज्जा नहीं आती ? क्या तुम नहीं जानते कि अधम मार्गमें चलनेसे किसीको उच्च स्थानकी प्राप्ति नही हो सकती । इसलिए निकृष्ट चेष्टा छोड़कर विषय-त्याग-रूप सत्पथका आश्रय लो, जिससे तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हो ।।५।।

संखिया खानेसे मनुष्य दो प्रकार हट सकता है । एक तो संखिया खाने वाले पुरुषकी दुर्दशाको अपने नेत्रोंसे देखने पर दूसरे किसी अत्यन्त श्रद्धेय आप्तपुरुषके वचनों द्वारा संखियामें अनिष्टकरत्वबुद्धि होने से । इसी प्रकार विषयोंसे निवृत्तिके भी दो

ही उपाय हैं। पहला भोगलिप्सु जनोंकी दुर्दशाका दर्शन और दूसरा विषयभोगमें अनर्थकरत्व निश्चय। उन दोनोंमें से पहले अगले श्लोकसे भोगी पुरुषोंकी दुर्दशा वर्णन की जाती है:—

कामान् वामानवाप्तुं सततमभिलषन्नैति चेतोऽपि तोषं
शोषं कायोऽप्ययासीदहह परितपन् भोगयोग्यत्वमौज्झत्
सोऽयं हन्तान्तराले विलुलित उडुपे वायुवेगेन सिन्धा-
वासीनो यद्वदेवं करुणमभिलपन् वेपते भोगलिप्सुः ।६।

एक ओर तो चित्त विषयभोगकी कामनाको नहीं छोड़ता और दूसरी ओर भोगका साधनीभूत शरीर रोगोंसे कृश होकर भोग करनेमें असमर्थ हो गया। इस प्रकार द्विविधामें फंसा हुआ भोगी दीनतापूर्वक रोदन करता हुआ ऐसे दुःखी होता है जैसे समुद्रके मध्यभागमें फँसी हुई तथा वायुके वेगसे डूबनेको तैयार हुई एक छोटीसी नौकामें बैठा हुआ कोई पथिक दुःखसे कातर हो जाता है ॥६॥

इस प्रकार विषयी पुरुषोंकी दुर्दशा कहकर अब आगेके चार श्लोकोंसे अनिष्टसाधनत्वरूप दूसरा उपाय कहा जाता है—

हा हा हन्तोरुरागो दहति वपुरिदं प्रेयसो विप्रयोगे,
संयोगे त्वागमोत्थामपि विमलदृशं कम्पयँल्लुम्पतीव ।
एवं दुःखैकहेतोरयि शुभधिषणाः काम भोगोरुरागा-
न्नागादस्माददम्योत्कटगरलमयात् त्रस्यत स्वास्थ्यहेतोः

यह राग केवल दुःखका ही हेतु है, क्योंकि विषय न मिलनेपर यह शोक और चिन्तादि उत्पन्न करके शरीरको नष्ट कर देता है और विषय प्राप्त होनेपर शास्त्रपर्यालोचनसे उत्पन्न हुई विवेक-दृष्टि को लुप्तप्राय कर डालता है। इसलिए हे निर्मल बुद्धियुक्त मुमुक्षु पुरुषों ! तुम अपने कल्याणके लिए दुःखमात्रके हेतुभूत अचिकित्स्य और भयंकर विषसे भरे हुए इस विषयभोगासक्ति-रूप सर्पसे सदा बचते ही रहो ॥७॥

यत्पूर्वं त्वमृतेन तुल्यमभवत्प्रेयोऽद्भुतं वस्तु मे,
कस्मात्तत्त्वगतेऽपि दीर्घसमये क्ष्वेडायते सम्प्रति ।
स्वप्नोऽयं किमिवेन्द्रजालमथवा मोहोऽथवा मामको,
ज्ञातं भो ननु मायिकस्य जगतो रूपं चलं न स्थिरम् ।८।

जो वस्तु पहले मुझे अमृतके समान प्रिय थी, वही कुछ ही समयमें न जाने विषके समान क्यों प्रतीत होने लगी है। क्या स्वप्न है अथवा इन्द्रजाल है या मेरा ही भ्रम है। नहीं, यह सब कुछ नहीं है। किन्तु इस मायिक संसारका स्वरूप ही चंचल है; स्थिर नहीं है, यहाँ प्रत्येक वस्तु कुछ कालतक सुख देकर अन्तमें नष्ट होने वाली ही है; अर्थात् जिस प्रकार देवदत्त नामक कोई पुरुष विदेशमें जानेसे पूर्व अपना कोई बहुमूल्य रत्न यज्ञदत्तके पास धरोहर रखकर चला जाय तो यज्ञदत्तको उस रत्नमें कोई राग नहीं होता, क्योंकि उसे निश्चय है कि देवदत्तके आने पर यह रत्न देना पड़ेगा। यदि देवदत्त अपना अधिकार सर्वथा त्यागकर

वह रत्न यज्ञदत्तको दान कर जाता तो अवश्य यज्ञदत्त का उसमें राग हो जाता; क्योंकि तब उसका यह निश्चय होता कि रत्न अब उसके पास से नहीं जायगा। इसी प्रकार यदि इस संसारके विषय तुम्हारे पास रहने वाले होते तो उनमें राग करना किसी प्रकार उचित भी हो सकता था परन्तु जब वे अवश्य नष्ट हो ही जावेंगे तो उनमें कदापि राग नहीं रखना चाहिए।

जिस प्रकार कोई पुरुष नीमके पत्ते चबाकर फिर गुड़ अथवा कोई दूसरी मीठी चीज खाय तो उसे पहले उन गुड़ आदि का माधुर्य प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार राग यद्यपि दुःखदायी होता है तथापि प्राथमिक सुख संस्कारोंके कारण वह दुःख पूर्ण-तया भान नहीं होता। जिस प्रकार कटुता के संस्कार माधुर्यकी प्रतीतिमें प्रतिबन्धक थे उसी प्रकार यहाँ समझना चाहिए। इस-लिए ऐसे सर्वदा दुःखकारी रागसे दूर रहना प्रत्येक कल्याण-कामी पुरुषका धर्म है, यही बात अग्रिम श्लोकमें कही जाती है:—

रागो रागत्वयुक्तः सुखयति हृदयं कालमत्राल्पमेव,
क्लिश्नात्यङ्गं तु तत्राप्यथ न सुखवशान्मन्यते क्लेश एषः
द्वेषत्वं प्राप्य सोऽयं सपदि पुनरहो कृन्ततिस्वान्तखण्डं,
हा हा चण्डं तथापि त्यजति न तमहो पापमेतन्मनो मे ६

राग रागरूपसे थोड़े ही समय हृदयको सुखी करता है। परन्तु उस कालमें भी शरीरको तो दुःख पहुँचाता ही है; तथापि सुखके संस्कारोंके कारण वह क्लेश प्रतीत नहीं होता है। फिर

वह शीघ्र ही द्वेषका रूप धारण करके हृदयका छेदन करता है। ऐसे ही दुष्टको समझ कर भी मेरा पापी मन उसका त्याग नहीं करता। तात्पर्य यह है कि रागका तो त्याग ही करना चाहिए।६।

जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने प्रिय पुत्र अथवा स्त्रीके मर जानेसे अत्यन्त विह्वल होकर रोने लगता है और स्वयं भी मरने के लिए उद्यत हो जाता है तथा उसके दूसरे ज्ञातिवर्गके मनुष्य एकत्रित होकर उसको संसारकी असारता दिखलाते हुए वैराग्य उत्पन्न करने वाले वाक्योंसे आश्वासन देते हैं। इसी प्रकार विषय सम्बन्धके नष्ट हो जानेपर जब इन्द्रियाँ विह्वल हो जाती हैं तो उन्हें भी विवेक-वैराग्य द्वारा ही शान्त किया जाता है। इसलिए प्रत्येक पुरुषको विषम समयमें सहायता करने वाले सच्चे मित्र के समान विवेक और वैराग्यका सम्पादन करना चाहिए। यह उपदेश अगले पद्यमें किया जाता है:—

संयोगः प्रेयसो मे मरणमुपगतः कामभूमिं श्मशानं,
कृत्वा रागे चिताग्नौ ज्वलति मम पुरस्ताद्रुदन्तीन्द्रियाणि
कस्त्राता स्यादमीषां विधिरपि विमुखो रागिणां रक्षणेऽद्य
सद्यो भ्रातर्विवेकाव्रज विरतिवचोभिः समाश्वासयैतान्

विषयके साथ जो संयोग था वह आज मृत्यु को प्राप्त हो गया और अन्तःकरणरूप श्मशानभूमिमें रागात्मक चिन्ताग्नि प्रज्वलित होने लगी। यह देखकर इन्द्रियाँ विह्वल होकर रोने लगीं। इनकी रक्षा अब कौन कर सकता है। रागियोंकी रक्षा करनेसे तो

परमात्मा भी विमुख है। इसलिए भाई विवेक ! तुम ही शीघ्र आकर वैराग्यपूर्ण वचनों से इनको धैर्य प्रदान करो ॥१०॥

जैसा किसी घरमें आग लग जानेपर उसे जल आदि डालकर बुझाना आरम्भ करते हैं परन्तु प्रायः ऐसा देखने को आता है कि ऊपर से अग्नि शान्त जैसी दिखाई पड़ने पर भी नीचे जलता ही रहता है और यह तब जान पड़ता है जब ऊपर फेंका हुआ जल हवा लगकर सूख जानेसे अग्नि की ज्वालायें ऊपर दिखलाई पड़ने लगें। इसी प्रकार यहाँ भी जब चित्तरूपी प्रासाद में रागानल धधकने लगता है तो उसे चित्त प्रबोधन, विषयदोष-दर्शन एवं रागिदुर्दशानिरीक्षण रूप जलप्रक्षेप से शान्त करना आरम्भ करने पर वह ऊपर से शान्त-सा प्रतीत होनेपर भी भीतर ही भीतर सुलगता रहता है। यह बात तब मालूम होती है जबकि विषयसंयोग होनेपर वह राग अपना विकराल रूप धारणकर बाहिर प्रकट होता है। इसलिए ऐसी अवस्थामें मुमुक्षु को चाहिये कि वह रागकी निवृत्तिके भ्रम से पूर्वोक्त साधनोंके अनुष्ठानका त्याग न करे, किन्तु जबतक रागाग्नि सर्वथा बुझ न जाय तबतक उनका अनुष्ठान निरालस्य होकर पूर्ववत् करता ही रहे। यही बात अग्रिम दो श्लोकों से कही जाती है :—

पूर्वं यः सुप्त आसीन्मम हृदयबिले रागनामा भुजङ्गः
सोऽयं सद्यो व्यजागर्विषमयः प्रेयसः संप्रयोगे ।
हा हा दष्टोऽस्मि दष्टः पतति वपुरिदं घूर्णते मानसं मे
कष्टं भोः सर्वमेतत्सपदि सम भवच्छून्यमन्तर्वियोगे ११

विषम विष से भरा हुआ राग नामका सर्प जो पहले मेरे हृदयरूप बिल में सोया पड़ा था अब विषयप्राप्तिरूप पादाघात से झट जाग पड़ा है। इसके काटनेसे मेरा शरीर गिरा ही जाता है और चित्त में भी बेचैनी बढ़ने लगी है, परन्तु आश्चर्य है कि विषय का वियोग होते ही ये सब बातें स्वप्नमें देखे हुये पदार्थोंकी तरह भीतरसे सारहीन हो गयी हैं ॥११॥

ज्ञात्वा सत्यं च सारं पुनरपि यदहो चेष्टसेऽसारहेतोः
चेतोऽदः किं तवाभूदहह कथय मे वञ्चितं केन बन्धो ।
सिन्धोः सन्तारणे मे व्यवसितमधुना मध्यमानीय तूर्णं
चूर्णं वाञ्छस्यकस्माच्छमविरतिमुखायाःकिमेतत्सुनावः ।

रे चित्त ! इस संसार में सत्य और सार वस्तुको जानकर भी तुम असार और मिथ्या वस्तुओंके लिए ही चेष्टा करते हो। तुमको क्या हो गया है ? क्या किसीने तुम्हें ठग लिया है। तुम पहले मुझे संसार-सागरसे पार करनेके लिए तैयार होकर फिर इस सागरके मध्यमें लाकर क्या अकस्मात् ही इस शमदम-वैराग्यादिरूप सुन्दर नौकाको चूर्ण करना चाहते हो ? तात्पर्य यह है कि ऐसा उचित नहीं है। हमें धैर्य धारणकर इस समुद्र से पार होने दो, नहीं तो हम और तुम दोनों ही जलमग्न होकर नष्ट हो जायेंगे ॥१२॥

अनादि कालसे संसार की ओर ही प्रवृत्त रहने के कारण

चित्तमें विषयों का राग उसके स्वभावभूत धर्मके समान दुर्निवार्य हो गया है यही बात अगले श्लोकमें कही जाती है—

हा हा श्रान्तोऽस्मि चेतस्तव विविधवचोभिः
समाश्वासनेऽस्मिन्,
क्षामः कण्ठो मदीयश्चिरमभिलपनात्कुण्ठितं प्रज्ञयाऽपि ।
त्वं तु स्वीयं न शाठ्यं त्यजसि कथमपि प्रेमतो बोध्यमानं
केनेत्थं पाठितं भो अपि हितवचने नैव विश्वासमेषि ॥१३

हे चित्त ! नाना प्रकारके उपदेशोंद्वारा तुम्हारे समझाने में मैं तो थक गया हूँ । बहुत समयतक बोलनेके कारण मेरा कण्ठ भी थकने लगा है और अब बुद्धि भी कुण्ठित होगयी है । परन्तु तुम तो प्रेमपूर्वक समझानेसे भी किसी प्रकार अपनी शठता नहीं छोड़ते हो । न जाने किसने तुमको ऐसी शिक्षा दी है, जिसके कारण तुम हितकर वचनों में भी विश्वास नहीं करते हो ।

भाव यह है कि जैसे गङ्गाजी का प्रवाह अनादि कालसे समुद्र की ओर ही बहता चला आ रहा है और इसीसे वह इस प्रकार स्वभावभूत हो गया है कि उसका परिवर्तन करना असम्भव सा हो रहा है; फिरभी यदि ठीक युक्ति और पूर्ण परिश्रमसे कार्य किया जाय तो उस प्रवाहका परिवर्तन होना एक साधारण विषय हो जाता है । बड़ी बड़ी नदियोंका नहरोंके रूपमें आ जाना इसी बातको प्रमाणित करता है । इसी प्रकार दीर्घ-काल की स्थिति के

कारण विषयोन्मुख प्रवृत्ति यद्यपि चित्त का स्वभावभूत धर्म ही होगया है, तथापि सही मार्गसे पूर्णपरिश्रम के साथ चलनेपर उस प्रवृत्ति को बदला जा सकता है। इसलिए मुमुक्षुको कभी भी हताश नहीं होना चाहिये। प्रत्युत पूर्ण उत्साह के साथ उद्योग करते रहना चाहिये ॥१३॥

यदि कोई कहे कि ऐसे ढीठ चित्तको समझानेसे क्या लाभ है जो समझाने से भी अपनी शठताको नहीं त्यागता तो इसका उत्तर आगे के पद्य में देते हैं—

कण्ठे कलङ्कवलितो यदि नीलकण्ठो
वकुण्ठवत्समपि गुण्ठति चेत् कलङ्कः।
प्रत्यक्ष एव सकलङ्कतया शशाङ्कः
शङ्के कलङ्कविकलस्तु न कोऽपि रङ्कः ॥१४॥

भगवान् शङ्करके कण्ठमें विषपान की सूचना देनेवाला नीला-चिह्न है। भगवान् विष्णुके भी वक्षस्थलमें श्रीवत्स नामक अङ्क है। चन्द्रमामें तो प्रत्यक्ष ही कलंक दिखायी देता है। इसलिए यह बात निश्चित है कि कलङ्क रहित वस्तु संसार में कोई नहीं है।

तात्पर्य यह है कि जैसे मल-मूत्रादि से लिथड़े हुए रत्न का, अशुद्धत्व दोषयुक्त होने पर भी, कोई त्याग नहीं करता, क्योंकि उससे प्राप्त द्रव्यके द्वारा अनेकों सांसारिक कार्योंकी सिद्धि होती है, इसी प्रकार शिव और विष्णुका भी कोई त्याग नहीं करता

भले ही वे दोषयुक्त भी हैं, क्योंकि उनकी उपासना करनेसे पुरुष जन्मजरामरणादि सन्तापों से मुक्त होकर परमानन्दको प्राप्त कर लेता है, तथा कलङ्कयुक्त होते हुए भी सन्तापशान्ति का हेतु होनेके कारण चन्द्रमाका कोई त्याग नहीं करता। इसी प्रकार यद्यपि चित्त अत्यन्त शठ है, वह सामान्यतया समझाने से अपनी पुरानी दुष्प्रवृत्तिका परित्याग भी नहीं करता, तथापि उसकी अवहेलना करना उचित नहीं है, क्योंकि उसीके शोधनसे जीव की मुक्ति हो सकती है। यदि हम विषयासक्त चित्तका तिरस्कार कर उनको विषयोंसे विरक्त नहीं करेंगे तो सर्वदा जन्म-मरण की शृङ्खलामें बंधे ही रहेंगे। इसलिए दोषयुक्त होनेपर भी हम को चित्तकी उपेक्षा न करके उसके दोषकी निवृत्तिका उपाय करते रहना चाहिये ।।१४।।

अस्तु, अब ऐसी जिज्ञासा होनेपर कि चित्तके दोषको दूर करनेका क्या उपाय है पूर्वोक्त विषय दोषदर्शन आदि साधनों का अग्रिम श्लोक से स्मरण कराते हैं —

यैर्यैरत्राभिषङ्गो जगति कृतचरः पामरैर्भोगलिप्सै-
स्तैस्तैः पश्चादतापि प्रचुरमिहशिरो धूनयद्भिश्चिराय।
साक्षात्कृत्याऽप्यसारं विषयमलमिदं भोक्तुमेवेच्छसि त्वं
हा हा चित्रंत्वदीयं चरितमिदमहो चित्त ते किं ब्रवाणि

जिस जिस भोगलिप्सु मनुष्यने इन सांसारिक विषयों में आसक्ति की, उसी-उसी को पीछे शिर पटक-पटक कर रोना

पड़ा। हे चित्त! विषयों को इस प्रकार साररहित जानते हुए भी यदि तुम उनके भोगकी इच्छा करते हो तो तुम अति नीच हो। इससे अधिक तुम को और क्या कहा जाय?

भाव यह है कि साम, दान, भेद और दण्ड इन चार उपायों-द्वारा हो कोई बात किसी पुरुषको अङ्गीकार करायी जासकती है। जो पुरुष साम, दान और भेद इन तीन उपायों से अपना कथन अङ्गीकार न करे उस को फिर दण्ड नामक चतुर्थ उपायसे ही समझाया जाता है। दण्ड का प्रयोग भी यदि विफल हो जाय तो फिर वह पुरुष हेय हो जाता है, क्योंकि फिर उसे किसी भी प्रकार नहीं समझाया जा सकता सो गतश्लोकों में भी यद्यपि चित्तप्रबोधन ही किया गया है, परन्तु वह साम नामक प्रथम उपाय द्वारा ही किया है। इस श्लोकमें 'तुम्हारा चरित विचित्र है अर्थात अतितुच्छ है जो वस्तु का दोष देखते हुए भी उसका त्याग नहीं करते हो', इस कटु वाक्यरूप वाग्दण्डका प्रयोग किया गया, जिससे चित्त अवश्य समझ सकता है। बार-बार उन्हीं उपायों का कथन करना सिद्ध करता है कि रागनिवृत्ति के लिए पूर्वोक्त साधनोंसे भिन्न कोई और साधन नहीं है। इसलिए मुमुक्षुको उत्साहपूर्वक उन्हींका अनुष्ठान करना चाहिए ॥१५॥

जिस प्रकार आन्तर और बाह्य भेदसे मल दो प्रकार का है इसी प्रकार आन्तर मल भी सूक्ष्म और स्थूल भेदसे दो प्रकारका है। स्थूल वह है, जिसकी निवृत्ति का उपाय पहले कहा गया है। सूक्ष्मका वर्णन आगामी श्लोक में किया जाता है:—

मोघास्ते ते क्रियौघाः सपदि शममगुः स्वान्तराज्यान्यमूनि
शून्यान्यासन्त्समन्तात्तदपि तदुदिता लेशका ये मनस्थाः।
चेतस्तेऽस्वस्थयन्ति प्रति घटिकमहो कोऽपराधोऽस्य जन्तोः
सन्तोऽत्र स्युःप्रमाणं किमिह बहुविदां वक्तुमर्हाम एते॥१६

तूने सुखकी प्राप्तिके लिए जिन-जिन क्रियाओंका आरम्भ किया था वे सब विफल रहीं। चित्तके मनोरथ भी सब निष्फल हो गये। परन्तु चित्तमें पड़े हुए उनके संस्कार प्रतिक्षण उसे खिन्न किया करते हैं। यह प्राणियोंके किस अपराधका फल है ? इस में विद्व समुदाय ही प्रमाण है। पण्डितोंके सामने हम बहुत क्या कहें ?

यदि किसी घड़े को घृत से भरकर अधिक समय तक रक्खा जाय तो पीछे उसमें से घृत निकाल लेने पर भी सूक्ष्मरूप से कुछ लगा रह ही जाता है। इसी तरह दीर्घकाल तक विषयभोग करनेसे चित्तमें रागांश बहुत बढ़ जाता है और फिर चित्तप्रबोधनादि उपायोंद्वारा स्थूल राग के निवृत्त हो जाने पर भी सूक्ष्म राग तो शेष रह ही जाता है। इसलिए साधकों को उचित है कि केवल स्थूल रागकी निवृत्तिमात्रसे अपने को कृतकृत्य न मान बैठें, किन्तु रागके संस्कारोंकी निवृत्ति होने तक प्रयत्न करते रहें ॥१६॥

आगे के दो श्लोकोंसे सूक्ष्म रागकी निवृत्तिका उपायभूत आत्मज्ञान कहा जाता है :—

कस्माद्दौषोत्थमन्तस्त्वमसि समिदं न त्वदन्यत्तुकिंचित्
त्वं चानन्दैकसीमा तव लवमुपयान्नन्दितं भूतजातम् ।
पश्य त्वं वैभवं स्वं चितिविमलतनुः सर्वभूतेश्वरोऽसि
रोदिष्यद्य।पि कस्माद्विभुरभवमृतिः किं तवानाप्तमस्ति ॥

हे जिज्ञासुवर्ग ! तुम अपने चित्तमें इतने दुःखी क्यों हो ? क्योंकि यह सारा संसार तुम्हारा ही स्वरूप है, तुम से भिन्न यह कोई वस्तु नहीं है। निःसीम आनन्द ही तुम्हारा स्वरूप है। तुम्हारे स्वरूपानन्दके ही एक-एक बिन्दु को लेकर समस्त प्राणी अपने को आनन्दित मान रहे हैं। तुम अपने स्वरूप को अनुभव करो ! शुद्ध चैतन्य ही तुम्हारा रूप है। तुम ही सम्पूर्ण प्राणिवर्ग के नियन्ता भी हो। रोते क्यों हो ? तुम विभु और जन्म-मरणसे रहित हो और आप्तकाम होने के कारण कोई भी वस्तु तुम को अप्राप्त नहीं है ॥१७॥

शुद्धं शान्तं स्वरूपं तव गगननिभं कोमलं कोमलानां
तेजः पुञ्जोरुतेजो ह्यवधिरसमयं सर्वतः सम्प्रसन्नम् ।
मुक्त्वा किं वल्गसीहाजरममरमिदं दुःखभूयिष्ठलोके
शोके कस्मान्निमग्नोऽस्यपि सकलजगद् भावयानन्दरूपम्

आकाशके समान शुद्ध तथा शान्त, सबसे कोमल, तेजोमय, सूर्यादिकों का प्रकाशन करने वाला, अनन्त आनन्दमय, अविद्या-कामक्रोधादि सकल मलसे रहित तथा मृत्यु आदि संसारधर्मों से रहित जो अपना स्वरूप है उसे छोड़कर इस दुःखमय संसारमें क्यों आसक्त हो और किस कारणसे शोकमें डूबे हुए हो। सम्पूर्ण जगत्को आनन्दमय और आत्मस्वरूप समझकर सुखपूर्वक विचरो।

भाव यह है कि जैसे सहस्र रुपयोंकी अभिलाषा रखने वाला पुरुष अपनी अच्छाका त्याग तब ही कर सकता है जब कि उसे लाख रुपये मिल जायँ अथवा मिलने की आशा हो जाय इसी प्रकार वैषयिक सुखोपभोग में राग की निवृत्ति तभी हो सकती है जब पुरुषको वैषयिक सुख की अपेक्षा अधिक सुख प्राप्त हो अथवा प्राप्त होने का दृढ़ निश्चय हो जाय, सो परमानन्दको जब आत्मासे अभिन्न कहा तो अब उसकी प्राप्तिमें कुछ सन्देह नहीं रह सकता, क्योंकि आत्मा किसी को अप्राप्त नहीं है। इस-लिए आत्मासे अभिन्न निरतिशय सुख भी किसीको अप्राप्त नहीं हो सकता ॥१८॥

यदि आत्मा निरतिशय आनन्दस्वरूप है और वह सदा प्राप्त ही हो तो जीव अपनेको सर्वदा आनन्दयुक्त प्रतीत क्यों नहीं करता, इस प्रश्न का उत्तर आगे के पद्य से देते हैं:—

सद्यो बुध्यस्व बन्धो हृदि वियति तवाऽऽयादुदग्राभ्रमाला
मोहाख्या श्याममलाऽलाद्यिमहह बलाद्भानुमन्तं विवेकम्।

ज्वालेयं वैद्युलोह स्फुरति सुनिशिता रागनाम्नी विशाला
यावद्वर्षेन्न हालाहलमियमधुना क्रोधकामाद्यनन्तम् ॥१६॥

मुमुक्षुओ! देखो तुम्हारे हृदयरूपी आकाशमें महाभयङ्कर अज्ञाननामकी काली घटा छा गयी है, जिस के कारण से हृदयाकाश में देदीप्यमान विवेकरूप सूर्य लुप्तप्राय हो गया है और राग नामवाली अत्यन्त तीक्ष्ण विद्युत्की ज्वाला चमक रही है सो जबतक यह काम-क्रोध आदि दुर्जर विष की वर्षा न करे तब तक ही तुम सचेत हो जाओ, क्योंकि हालाहल की वृष्टि हो जाने पर तो फिर जगना असम्भव है।

भाव यह है कि जिस प्रकार मध्याह्नकालीन सूर्य आकाश-मण्डलमें देदीप्यमान होता हुआ भी जिस पुरुष के नेत्र घनावलिसे आवृत्त है उसे दिखलाई नहीं पड़ता इसी प्रकार परमानन्दस्वरूप आत्मा जीवका स्वरूपभूत होने के कारण सर्वदा प्राप्त होने पर भी जिस पुरुष की बुद्धि रूपी दृष्टि अज्ञानान्धकार से आच्छादित है उसे प्रतीत नहीं होता। जिन अधिकारियोने गुरूपदिष्ट साधनोंके अनुष्ठानसे उस मोहपटलको हटा दिया है वे ही उस परमानन्दके सागरमें अहर्निश निमग्न रहते हुए जीवन्मुक्ति का आनन्द अनुभव कर रहे हैं। इसलिये आत्मा के निरतिशयानन्द-का अनुभव करनेके लिए बुद्धिरूप दृष्टि को आवृत करने वाले अज्ञानरूप आवरणको हटाना चाहिये ॥१६॥

अब जिस प्रकार उस आवरण का भङ्ग हो सकता है उसे अग्रिम श्लोक में कहते हैं:—

हा हा पीयूषपूरानधिहृदयनदि ज्ञानवैराग्यरूपान्
संशोष्य क्षारकूपानयि खनसि कुतो मारमुख्यानमुत्र ।
पश्यायं मूर्ध्निमृत्युर्ललति कतिपयैरर्दितुं त्वां निमेषैः
सुप्तः किं मूढजन्तो व्रज विमलपथे मङ्गले मा प्रमाद्येः।२०॥

जिज्ञासुओं ! तुम हृदयरूप नदीमें परिपूर्ण रूपसे वर्तमान ज्ञानवैराग्यादि अमृतके समान शीतल और सुमधुर जलके प्रवाहको सुखाकर उसकी जगह काम-क्रोध आदि खारे जलसे भरे हुए कुओंको क्यों खोदते हो ? देखो, तुम को शीघ्र ही नष्ट करने के लिए यह मृत्यु तुम्हारे शिर के ऊपर चक्कर लगा रहा है। ऐसे संकटमय समयमें भी तुम क्यों निद्राक्रान्त होकर सोये पड़े हो। इसलिए उठो, आलस्य और प्रमादको छोड़कर कल्याणकारी मोक्षमार्ग के पथिक बनो।

तात्पर्य यह है कि मनुष्य कल्याणके साधन ज्ञान और वैराग्य को त्याग कर काम-क्रोधादिकोंको अपने अन्तःकरणमें बसा लेता है, जिनके कारण उसे पद-पदपर आपत्तियोंका ही अनुभव करना पड़ता है ! यदि इसके विपरीत वह काम-क्रोधकी उपेक्षा कर उनके स्थानमें ज्ञान-वैराग्यप्रभृति दैवी सम्पत्तिका सम्पादन कर ले तो उसे इस जीवनकालमें भी किसी प्रकारका शोक अथवा मोह नहीं घेर सकता और उसके परलोक-सुधारमें तो कोई सन्देह है ही नहीं। इसलिए श्रेयकी इच्छा वाले प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य यही है कि पहले वह काम-क्रोधादिका तिरस्कार करके

अपने अन्तःकरण में विवेक-वैराग्यादिको सञ्चित करे, जिनके द्वारा वह परमात्मदर्शनका अधिकारी बन सके ॥२०॥

चित्तमेंसे रागद्वेषादिको हटानेका उपाय पूर्वोक्त चित्त-प्रबोधन तथा विषयदोषदर्शनके अतिरिक्त और कोई नहीं है, इसलिए पूर्ण उत्साहसे उन्हीं का साधन करना चाहिये। यह बात आगामी श्लोक में स्पष्ट की जायगी:—

चेतश्चेत्त्वं हि चेतो जडमिव वचनैर्मामकीनैः प्रबोधं
नायास्यद्यापि नूनं तव किमपि महत्पापमुद्भूतमस्ति ।
स्वस्तिस्तात् ते व्रजामो वयमथ विपुलां भूमिकां काञ्चिदेतां
यत्र त्वं नो न चेत्यं परमतिविशदं ज्योतिरेकं समन्तात्।२१।

हे चित्त ! यदि तुम चेतन होते हुए भी जड़ की तरह अभी मेरे वचनोंद्वारा नही समझोगे तो जान लेना कि तुम्हारा कोई अति उग्र पाप उदय हो रहा है। अस्तु, तुम अपनी इच्छानुकूल रहो हम भी उस स्थानपर जाते हैं जहाँ तुम तथा कोई अन्य अनात्मस्वरूप दृश्य भी नहीं है, किन्तु एक अत्यन्त निर्मल एवं विश्वव्यापी आत्मस्वरूप प्रकाश विद्यमान है। यद्यपि चित्त की उपेक्षा करके उस भूमिकापर आरूढ़ होना सर्वथा असम्भव है तथापि यहाँ चित्त की उपेक्षा में तात्पर्य नहीं है। किन्तु जिस प्रकार पिता-पुत्र दोनों ही किसी खेल या अन्य तमाशे को देखने जायँ और वहाँ पुत्र उस खेल को देखने में इतना दत्तचित्त हो

जाय कि घर को लौटना भी न चाहे तो उसका पिता यह जानकर कि पुत्र अकेला नहीं रह सकता उससे कहे कि बेटा ! यदि तुम्हें घर नहीं चलना है तो यहीं तमाशा देखते रहो मैं तो जाता हूँ, तो वह पुत्र अकेला रहने के भय से तुरन्त ही खेलमें आसक्ति छोड़ देता है। इसी प्रकार चित्त को छोड़कर चले जानेसे यही अभिप्राय है कि शायद वह इसी भयसे संसारके विषयोंमें रागका त्याग कर दे, क्योंकि रागके रहते हुए कभी भी कृत्यकृत्यता नहीं हो सकती ॥२१॥

अभीतक चित्तप्रबोधन, विषयदोषदर्शन तथा विषयि-दशा-निरीक्षण ये तीन उपाय ही चित्तसरोवरसे रागरूप जलको बाहिर फेंकनेके लिए पूर्वोक्त पात्र स्थानीय होनेसे विस्ताररूपमें कहे गये हैं। अब दूसरे उपाय भी कहते हैं:—

चेतः शृण्वेतदन्ते परमहितमहं श्रावये सङ्ग्रहेण
सौख्यं यास्यस्यवश्यं पृथु सपदि सखे केवलं तद्ग्रहेण ।
त्यक्त्वाऽनात्माभिमानानतिविशदधिया वीक्ष्य चात्मानमेकं,
पश्यंश्चैवैनमन्तर्बहिरपि च जगत्स्वप्नभावेन जह्याः ।२२।

हे चित्त ! सावधान होकर सुनो, मैं तुमको संक्षेपसे परम हितकर वाक्य सुनाता हूँ, जिसका पालन करनेसे तुम शीघ्र ही परमानन्दको प्राप्त हो जाओगे। वह यह, कि तुम देह-गेह आदि में अहन्त्व-ममत्वरूप अनात्माभिमानोंको त्यागकर तथा निर्मल

और सूक्ष्म बुद्धिसे एक अद्वितीय आत्माका साक्षात्कार करके फिर उसी को बाहर-भीतर परिपूर्ण रूपसे अनुभव करते हुए इस जगत् को स्वाप्निक पदार्थों के समान समझकर छोड़ दो।

अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार कोई छोटे मुँहवाला पात्र पृथिवी में जड़ा हुआ हो और उसमें जल भरा हो तो उसे खाली करनेके लिए हम न तो उसको उलटा कर सकते हैं और न छोटा मुख होनेके कारण किसी दूसरे पात्रसे ही उसका जल बाहिर निकाल सकते हैं; परन्तु यदि उस घटमें पत्थरके छोटे-छोटे टुकड़े भर दिये जायँ तो जल स्वयं ही बाहिर आ जायगा। इसी प्रकार प्रकृतमें अनात्म-वासनारूप जल से भरे हुए मनोघटको खाली करने के लिए उससे विपरीत आत्म-वासनारूप पत्थर के टुकड़ों को भर दा। ऐसा करनेसे उसके भीतर भरा हुआ जल स्वयं ही बाहिर हो जायेगा। फिर उसे खलाने के लिए तुम्हें और कुछ भी नहीं करना पड़ेगा ॥२२॥

बहुत से पुरुषोंका निश्चय है कि प्रत्येक काय प्रारब्धके अधीन है, बिना प्रारब्धके किसी कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिए जब मुक्तिके अनुकूल प्रारब्धका उदय होगा तो मोक्ष स्वयं हो जायगा। उससे पहले हजार प्रयत्न करनेपर भी कुछ फल नहीं होगा-इत्यादि। दूसरे लोग कहते हैं कि हम श्रेयःसाधनोंका अनुष्ठान करना तो चाहते हैं, परन्तु हमको सांसारिक व्यवहारोंसे अवकाश ही नहीं मिलता जिसमें हम अपना मनोरथ सिद्ध कर सकें। उनके प्रति आगेके तीन श्लोकोंसे उपाय कहा जाता है:—

चेतः किं खिद्यसे त्वं लिखितमिह पुरा यद्भवेत्तेविधात्रा
भाव्यं तेनैव नूनं शुभमशुभमथो भुङ्क्ष्व भूत्वा प्रसन्नम् ।
मायामेतां समस्तामपि विदितवतस्ते न शोकोचितत्वं,
सत्त्वं भूयिष्ठमङ्गीकुरु विहर सदा स्वीयकर्मानुसारम् ॥

चित्त !तुम इतने खिन्न क्यों होते हो। परमात्माने जो कुछ शुभ अथवा अशुभ तुम्हारे भाग्यमें लिख दिया है वही होगा उसे तुम प्रसन्न होकर भोगो और इस सकल संसारको मायामय समझनेवाले पुरुषको शोक अथवा खेद करना उचित भी नहीं है। इसलिए धैर्य धारणकर सदा अपने भाग्यानुसार प्राप्त पदार्थसे प्रसन्न रहते हुए विचरण करो ॥२३॥

दुःखान्यायान्ति सद्यो जगति तनुभृतां यान्त्यकस्मात्सुखानि
तेषामन्ते सुखानि प्रकटमुपनमन्ते पुनर्दुःखवन्ति ।
जायन्ते चाथ मृत्वा मरणमुपलभन्ते जनित्वा तथाऽमी
एवं संसार वृत्तं चलमधिगतवान् खेदमोदौ भजेत्कः ॥२४

इस संसारमें प्रत्येक प्राणीको कभी तो दुःख घेर लेते हैं, कभी अकस्मात् ही वह बड़े सुखका भोक्ता बन जाता है। तदनन्तर फिर हठात् दुःखोंसे घिरकर वह अनन्तसुखमय जीवन का अनुभव करता है। इसी प्रकार वह कभी तो जन्म धारणकर मृत्युको प्राप्त होता है और कभी मरणके पश्चात्

पुनः उत्पन्न होता है। इस प्रकार इस संसारको अहर्निश घटीयन्त्रके समान घूमनेवाला समझकर कौन बुद्धिमान् सांसारिक पदार्थोंमें हर्ष अथवा शोकको प्राप्त होगा ॥२४॥

मृत्योर्माति भयं भूदिति रहसि मनो बोधयाम्येतदेकं
मन्येथा मुक्तरेकं यदि सपदि वियायुः समेऽप्याधयस्ते ।
सत्यं प्रत्यश्चमेकं प्रतिभुवनभवं भावयात्मानमन्तस्त्य-
क्त्वा तुच्छाभमन्यद्धितमहितमिवोद्भासमानं समन्तात् २५

हे चित्त ! मैं तुमको एक उपय बतलाता हूँ। यदि तुम उसे सन्देह और भ्रम छोड़कर स्वीकार कर लोगे तो तुम्हें कभी भी जन्म-मरणका भय व्याप्त नहीं होगा, भले ही सारी आपत्तियाँ तुम पर ही आक्रमण कर दें। वह उपाय यह है कि जो हितकर से प्रतीत होने पर भी वस्तुतः अनर्थकर हैं, ऐसे इन तुच्छ अनात्मपदार्थोंका राग छोड़कर तुम सत्य सर्वव्यापी एवं सबके साक्षिभूत अपने प्रत्यगात्माका ही मनन, चिन्तन और ध्यान किया करो।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार किसी पुरुषके पास सहस्र रुपया है और मरनेके समय अपने उस धनको उसने अपने पुत्र को, जो कि अभी शैशवावस्थामें ही है, अर्पण कर दिया है। अब वह पुत्र युवा होनेपर यदि पैतृक सम्पत्तिके बलपर अपना जीवन व्यतीत करना ठीक समझकर उस सम्पत्ति के भरोसे और नया धन पैदा करनेका कुछ उद्योग न करे तो परिणाम यह होगा कि दश-या-बीस वर्षके अनन्तर अथवा उससे भी पहले वह

भूखा मरने लगेगा। यदि वही पुरुष पैतृक धन भोगते समय अपने भावी जीवनके लिए अन्य सम्पत्ति उपार्जन कर लेता तो उसे कभी आपत्तियोंका मुँह न देखना पड़ता। इसी प्रकार प्रकृतमें भी प्रारब्ध तो पैतृक सम्पत्तिके समान अवश्य भोगनेके लिए हमारे पास विद्यमान है ही, परन्तु हमारा कर्तव्य यही है कि प्रारब्धको भोगते हुए भी भविष्यमें सुखपूर्वक रहनेके लिए अन्य उपाय भी करते रहें। नहीं तो मनुष्यशरीरको देने वाले प्रारब्धकी समाप्ति हो जाने पर हमको पश्वादि शरीरमें जाना पड़ेगा जहाँ हम कुछ नहीं कर सकेंगे। इसीलिए श्रुति भगवती उच्च स्वरसे कहती है "इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः" अर्थात् यदि इस मनुष्य शरीरमें कुछ सुखप्राप्तिका उपाय कर लिया तब तो ठीक है, नहीं तो फिर अनर्थ परम्परामें ही भ्रमण करना पड़ेगा। 'अवसर नहीं मिलता' यह कहना उचित नहीं क्योंकि सारा समय व्यवहारमें ही व्यतीत नहीं होता किन्तु अनर्थ और व्यर्थ कार्यों में ही बहुत-सा समय नष्ट किया जाता है। सिनेमा थियेटर प्रभृति अनर्थके मूलभूत तमाशोंको देखनेके लिए और ताश-शतरञ्ज प्रभृति व्यर्थ खेलोंके लिए जब हम समय प्राप्त कर सकते हैं तब कोई कारण नहीं कि परमार्थ साधनोंके अनुष्ठानके लिए हमें समय न मिले। केवल उत्साहकी कमी है। उत्साह हो तो व्यवहारके समयमें से भी समय निकाला जा सकता है। इसलिए वर्तमान शरीरोपयोगी व्यवहारसे अधिक व्यवहार न बढ़ाकर परमार्थ-पथमें ही प्रत्येक पुरुषको अग्रसर होना चाहिए॥२५॥

मुक्तिके द्वार पर पहुँचने तक मनुष्यों पर विघ्नोंका आक्रमण होता है। इसलिए प्रत्येक साधकको पूर्ण उत्साह रखना चाहिए, जिससे विघ्न उसे लक्ष्य से च्युत न कर सकें। यह बात अग्रिम श्लोकमें कही जायगी:—

हा गत्वाध्वानमर्द्धं कथमपि च पुरोदृश्यमानेऽपि धाम्नि
चेतः किं मोक्षनाम्नि प्रयदभिवलसे मन्द पश्चादकस्मात्।
भुक्त्वा भोगानिहत्यान्मधुगरलयुतान्नोपमान्व्यस्मरः किं
याह्यूद्ध्वं मागमोऽधो न यदि कृतधियां हास्यतां यास्यसीह

हे चित्त! परमार्थका आधा मार्ग तय कर लेने पर और मोक्षनामक परमधामके दृष्टिगोचर होनेपर भी तुम क्यों पीछे संसारकी ओर चलने लगे? क्या मधु और विष मिले हुए अन्न के समान भोगकालमें मधुर और परिणाममें अनिष्ट करनेवाले सांसारिक विषयोंको अनुभव करके भी उनके स्वरूपको भूल गये? चलो, उन्नतिकी ओर बढ़ो। अवनतिकी ओर जाना उचित नहीं है। यदि ऐसा नहीं करोगे तो बुद्धिमान् पुरुषोंमें तुम्हारा उपहास होगा।

भाव यह है कि जिस प्रकार कोई पुरुष फल अथवा पुष्प तोड़नेके लिए वृक्षपर चढ़े और ऊपर पहुँचनेपर तत्काल ही नीचे गिर जाय तो उसका ऊपर चढ़ना व्यर्थ ही हो जाता है, यदि वह

वृक्षपर चढ़ जाता तो उसके फल फूल प्राप्त करके अपना परिश्रम सफल कर लेता है। इसी प्रकार चित्त भी यदि किसी भूमिका-विशेष को प्राप्त करके उसमें स्थित न हो तो वह अपने परम प्रयोजन आत्यन्तिक कृतकृत्यताका अनुभव नहीं कर सकता। इसलिए प्रत्येक साधकको अपनी अवस्था का परिपाक होने तक प्रयत्नशील रहना चाहिए ॥२६॥

अस्तु, अपने चित्तकी अवस्थाको परिपक्व बनाने का क्या उपाय है, इसका उत्तर आगामी तीन पद्यों में देते हैं:—

एते प्रेयोऽभिलापा अहह कथममी कोमलाङ्गेषु सङ्गा,
रूपं हा पाटलाभं मधु मधुरमिदं चाधरोपान्तलग्नम् ।
प्रोत्सृप्ता लोभयन्ते मुखकमलपुटादुत्कटामोदधारा
हाहैवं मोहवन्तो जगति जडधियो ग्रासतां यन्तिमृत्योः ।

प्रियतमाके वे मधुर आलाप कैसे आनन्दप्रद थे ? कोमल अङ्गोंका स्पर्श कैसा लोकोत्तर सुखकी वर्षा करनेवाला था ? गुलाबके फूलोंको भी तिरस्कृत करनेवाला कैसा रमणीय रूप था ? अधरोष्ठमें अतीव मधुर मधु लगा हुआ था तथा मुखकमलसे बहनेवाली उत्कट गन्धकी धाराएँ मनको किस प्रकार लुभाने-वाली थीं ? इसी प्रकार मोहजालमें फँसे हुए विषयी पुरुष मृत्युके मुखमें प्रविष्ट हो जाते हैं। इसलिए मृत्युसे मुक्त होनेकी इच्छा-वाले पुरुषको सर्वथा विषयोंका त्याग करना चाहिए ॥२७॥

ज्यायस्येका बुभुक्षा चिरतदनुजनुः सा द्वितीया मुमुक्षा
द्वे अप्येते भगिन्यौ मम च दुहितरावेत्य चेतोऽङ्गणे मे ।
वैरायेते तदाद्या करणगणयुतैकाकिनी सा कनिष्ठा
पक्षे याम्यन्ति मायास्तदिह लघुतरं दुर्बलात्वातिप्रयत्वात्

बुभुक्षा और मुमुक्षा नाम की दो बहिनें मेरी पुत्रियाँ हैं, जिनमें बुभुक्षा बड़ी है और मुमुक्षा छोटी। ये दोनों मेरे चित्त रूप आँगन में आकर आपसमें लड़ती हैं. बुभुक्षा इन्द्रियों के सहित होनेके कारण बलवती है और मुमुक्षा छोटी तथा अकेली होने के कारण दुर्बल है। इसलिए मैं मुमुक्षा की ही सहायता करूँगा क्योंकि वह दुर्बल और छोटी होने के कारण मुझे प्रिय है। भाव यह है कि अपने कल्याणकी कामना वाले पुरुष को भोगेच्छा (बुभुक्षा) का त्याग करके मोक्षेच्छा (मुमुक्षा) को ही बढ़ाना चाहिए ।।२८।।

मोहान्धप्रविवेकचक्षुष इमे रज्यन्ति कामाकुला
लोका हा विषयेषु मामकमिदं प्रेयः सदा स्थास्यति ।
इत्येवं दृढ़बद्धमुग्धमतयो हृष्यन्ति कांश्चित्क्षणान्
दह्यन्तेऽरमनल्पशोकदहने हा कस्य को विद्यते ।।२६।।

अज्ञानसे विवेकरूप नेत्रके अन्धे हो जानेपर काम और रागादि से आक्रान्त पुरुष ये हमारे प्रिय पदार्थ सदा रहेंगे' इस

भ्रमके वशीभूत होकर विषयोंमें आसक्त हो जाते हैं, परन्तु कुछ ही क्षण हर्ष मानकर फिर शीघ्र ही प्रबल शोकानलसे सन्तप्त होने लगते हैं। इस संसार में कौन किसकी रक्षा कर सकता है? अर्थात् आप ही अपनी रक्षा करनेमें समर्थ है, इसलिए दूसरोंकी सहायताका भरोसा छोड़कर स्वयं पुरुषार्थ करना चाहिए।

इन तीनों श्लोकोंका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अन्धकारकी निवृत्ति प्रकाशके द्वारा ही की जा सकती है और गर्मीको ठंडके द्वारा ही दूर कर सकते हैं, क्योंकि उनका ही परस्पर विरोध है, इसी प्रकार विषयोंसे चित्त हटाके के लिए पहले तो यह जानना आवश्यक है कि विषयोंमें चित्त की प्रवृत्ति-का कारण क्या है। जब कारण मालूम हो जाए तो उस का विरोधी साधन ढूँढना चाहिए और तत्परतापूर्वक उसीका अनुष्ठान करना चाहिए। फिर तो चित्तको विषयोंसे हटाना एक साधारण-सी बात होगी। चित्त जब विषयोंमें प्रवृत्त होता है तो पहले उसे हितकर ही समझता है, अहितकर नहीं समझता, क्योंकि जिन पदार्थोंमें इसे अनिष्ट-हेतुताका निश्चय है उनमें इसकी प्रवृत्ति कदापि नहीं होगी। भला, जान-बूझकर विषयोंमें कौन प्रवृत्त होता है? इसी प्रकार जहाँ इसे अनर्थजन-कताका पूरा निश्चय नहीं होता वहाँ इसकी प्रवृत्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है, जैसे पुत्र, स्त्री और धन आदिमें। इस अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा हम यह निश्चय कर सकते हैं कि विषयों में चित्तकी प्रवृत्तिका बीज विषयोंमें इष्टसाधनता बुद्धि होना अथवा अनिष्ट-

साधनता बुद्धिका न होना है। इसलिए उसकी प्रवृत्ति रोकनेका उपाय विषयोंमें अनर्थकरत्वबुद्धि ही हो सकती है, क्यों कि यही बुद्धि पूर्वोक्त प्रवृत्तियोंको पैदा करनेवाली बुद्धियोंकी विरोधिनी है। उसका उपाय विषयी पुरुषों की दुर्दशाको देखना है, जिसका ऊपरके श्लोकोंमें स्पष्टतया वर्णन किया गया है। इसी बातको योगसूत्रोंके रचयिता भगवान् पतञ्जलिने भी अपने एक सूत्रमें कहा है; यथा—'वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्' अर्थात् जब साधनके विपक्षी हिंसा, राग-द्वेषादि साधकके चित्तमें बाधा उत्पन्न करें, जब उसका चित्त विषयोपभोगकी ओर खिचने लगे तो उस समय पतनसे बचनेके लिए तत्प्रतिपक्षीभूत पदार्थोंमें अनर्थजनकताकी भावना करे। ऐसा करनेसे उसका चित्त विषयोपभोगसे विमुख होकर निःश्रेयसके मार्गमें प्रवृत्त हो जायगा। पूर्वोक्त श्लोकमें इस उपायकी ही पूर्ण रूपसे व्याख्या की गयी है। इसलिए प्रत्येक साधकको उपर्युक्त उपायोंसे अपने कल्याण मार्गके विरोधी विघ्नोंका निराकरण कर अपने परम लक्ष्यको प्राप्त करनेमें तत्पर रहना चाहिए और उसके साधनों के अनुष्ठानमें पूरा उत्साह रखना चाहिए ॥२७॥

राग-द्वेषरूप प्रतिबन्धकोंके रहते हुए मोक्षका हेतुभूत आत्मदर्शन होना सम्भव नहीं था अतः सबसे पहले हमें अनेकों उपायों द्वारा उनकी निवृत्तिका व्याख्यान करना पड़ा। अब अग्रिम श्लोकोंसे ज्ञानोत्पत्तिकी मुख्य सामग्री तत्त्वविचारका उपदेश किया जायगा:—

किमिमा मयि दीनतामगाः,
प्रथमानोरुमहत्त्वभागपि ।
समधीहि निजं तु वैभवं,
सुखसिन्धुस्त्वमवाप्तसन्नसि ॥३०॥

अयि मुमुक्षुवर्ग ! तुम स्वयं प्रकाशमान और निरतिशय महत्त्व सम्पन्न होते हुए भी क्यों इस प्रकार दीनताको प्राप्त हो रहे हो ? अपने स्वरूपका स्मरण ता करो। देखो, तुम परम आनन्दके समुद्र और जो कुछ पाना था उसे प्राप्त किये हुए हो।

भाव यह है कि जैसे, देव और श्याम नामक दो व्यापारियों के अमूल्य रत्नोंसे पूर्ण दो जहाज पृथक्-पृथक् महासागरोंमें यात्रा कर रहे हैं। उनमें श्यामका जहाज दुर्भाग्यवश समुद्रमें डूब गया। परन्तु सूचना देने वालेने भ्रमवश देवको समाचार दिया कि तुम्हारा जहाज डूब गया है। यह सुनकर देव अपनेको निर्धन हुआ समझकर, वस्तुतः वैसा न होने पर भी, अत्यन्त दीनहोकर व्याकुल हो जाता है। परन्तु कुछ काल पश्चात् देवके सेवकों का समाचार मिलता है कि उसका व्यापार अच्छी तरह चल रहा है और पहलेकी अपेक्षा दूना-तिगुना लाभ हुआ है तो यह सुनकर देव अपने पूर्वसिद्ध धनित्वका निश्चयकर दीनभाव को छोड़कर पुनः आनन्दित हो जाता है। इसी प्रकार जीव भी परमार्थतः सुखस्वरूप तथा सब प्रकारके शोकोंसे रहित होने पर भी किसी कारणसे अपने पारमार्थिक स्वरूपको भूलकर

अपनेको शोक, मोह, जन्म, जरा, मरण आदि धर्मोंका आश्रय समझकर अत्यन्त दुःखी होने लगा है। यदि वह फिर भी अपने स्वरूपका स्मरण करे तो समस्त आधिव्याधियोंसे रहित होकर परमधामको प्राप्त हो जायगा ॥३०॥

अब प्रश्न होता है कि दृष्टान्तमें तो सूचकके वाक्योंद्वारा देव को वास्तविक परिस्थितिका अज्ञान हुआ था परन्तु दार्ष्टान्तिकमें स्वरूपके विस्मरण में क्या कारण है। इस का उत्तर देनेके लिए आगे का पद्य प्रवृत्त होता है:—

ममतामभिमुञ्च भिन्नता-
मपि केचित् क्षणमेकमीशते ।
तव सोढुमये न संविदः,
किमहन्तामनयेन पश्यसि ॥३१॥

देह-गेह प्रभृतिमें ममताका त्याग करो। शरीर एवं इन्द्रिय आदिमें अहन्त्व बुद्धि रखना भी अन्याय्य है, क्योंकि ज्ञानस्वरूप तुम्हारेमें भेद सर्वथा असम्भव है तथा अहन्ता और ममता बिना भेदके हो नहीं सकती। तात्पर्य्य यह है कि यदि चोर देवदत्त की गौ चुरा ले तो यज्ञदत्तको कोई क्लेश नहीं होता क्योंकि यज्ञदत्तका उस गौमें ममत्व नहीं है परन्तु यदि देवदत्त यज्ञदत्तको वह गौ दान करदे और फिर चोर चुरा ले तो अवश्य यज्ञदत्त को दुःख होगा, क्योंकि अब उस गौमें उसकी ममता हो

गयी है। इस अन्वय-व्यतिरेकके बलसे ममत्व ही दुःख का बीज सिद्ध होता है। देहादिमें अहन्ताबुद्धि ही ममताका हेतु है, क्योंकि सुषुप्तिके समय अहन्ताका अभाव हो जानेसे ममताका अभाव भी देखा जाता है। अन्वय-व्यतिरेकके उन दोनोंका मूल अनात्म पदार्थोंकी प्रतीति ही सिद्ध होती है। जैसे घटाभावनिश्चयके समय घटबुद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि उनका परस्पर विरोध है। इसी प्रकार देह-गेहप्रभृति अनात्मपदार्थोंमें अहन्त्व और ममत्व-बुद्धि होनेके समय भी आत्मसाक्षात्कार नहीं हो सकता, क्योंकि सुखप्रद और दुःखप्रद होनेके कारण उनका भी आपसमें विरोध है। इससे सिद्ध होता है कि अहन्त्व-ममत्वनिश्चय ही आत्मस्वरूप का आवरण करने वाला है ।।३१।।

जब अनात्म पदार्थोंमें अहन्ता और ममता होना ही आत्म-साक्षात्कारका प्रतिबन्धक है तो आत्मदर्शनकी इच्छा वाले पुरुषको अनात्म पदार्थोंकी उपेक्षा करके सर्वत्र परिपूर्ण परमात्माका साक्षात्कार करनेके लिए प्रयत्न करना चाहिए। यह बात अग्रिम श्लोक में कहते हैं:—

अवलोकय सर्वमेकया,
मधुमत्त्वा समुदारया दृशा।
निजरूपमनाविलं महद्,
भ्रमभातेषु कथं विमुह्यसि ।।३२।।

जिनका वास्तवमें कोई स्वरूप नहीं है, किन्तु भ्रमसे

ही प्रतीत होते हैं उन अनात्म वस्तुओंमें मोह त्यागकर जो सर्वगत, अविद्या काम-क्रोधादि दोषोंसे रहित और अपना स्वरूप ही है, उस परब्रह्म परमात्मा को ही अपनी आनन्दामृतवर्षिणी उदार दृष्टिद्वारा सम्पूर्ण रूपोंमें देखा करो।

भाव यह है कि जिस प्रकार घटव्यक्तियोंका आपसमें भेद रहनेपर भी, घटजाति विवक्षित होनेपर और परस्पर व्यावृत्त घटव्यक्तियोंकी विवक्षा न होनेपर भिन्न-भिन्न घट-व्यक्ति भी 'घट' 'घट' इस एकाकार प्रतीतिकी विषय हो जाती हैं इसी प्रकार स्थावर जङ्गमरूप सारा विश्व भी औपाधिक वैलक्षण्यकी विवक्षा न होनेपर भी उसके अधिष्ठान और सद्रूपमें भासमान एक परमात्माकी विवक्षासे ऐक्यप्रतीतिका विषय बन सकता है। इसमें किसी प्रकारकी भी आपत्ति नहीं है ॥३२॥

उक्त ज्ञान ही निरतिशय सुखकी प्राप्तिका साधन है, इस बात को सिद्ध करनेके लिए आगे का श्लोक कहा जाता है:—

सकलं निजरूपमित्यव,

त्यज भेदभ्रममोहसे सुखम्।

यदि भूरिभयं द्वितीयतः,

श्रुतिरप्याह सनातनी तव ॥३३॥

यदि तुम भयकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्ति चाहते हो तो भ्रमात्मक प्रतीतिके विषयभूत द्वैतप्रपञ्चकी उपेक्षा करो और सम्पूर्ण चराचरात्मक विश्वको अपना ही स्वरूप समझो; क्योंकि

'उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति', 'मृत्योः सः मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' इत्यादि श्रुतियाँ द्वितीय-दर्शनसे ही भयका प्रतिपादन कर रही हैं; अर्थात् द्वितीय दर्शनके त्यागसे ही भय की निवृत्ति होती है—इसीमें उक्त श्रुतियोंका तात्पर्य है, तथा 'ब्रह्मवित्परमाप्नोति', 'तरति शोकमात्मवित्', 'विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः' इत्यादि श्रुतियाँ स्पष्ट ही ब्रह्मज्ञानसे शोकोपलक्षित नामरूपात्मक प्रपञ्चकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्तिका प्रतिपादन कर रही हैं।

भाव यह है, 'यन्निन्द्यते तत्प्रतिसिद्धयते,यत्स्तूयते तद्विधीयते' अर्थात् शास्त्र जिसकी निन्दा करे, उसके निषेधमें और जिसकी स्तुति करे उसके विधान में उसका तात्पर्य होता है। जैसे 'असत्रं वा एतद्यदच्छन्दोमम्' अर्थात् वह सत्र असत्र है जिसमें छन्द और ॐ न हों। यहाँ छन्द और ॐ शून्य सत्रकी निन्दा करनेसे अच्छन्दोम सत्रका अनुष्ठान करना निषिद्ध है, ऐसा समझना चाहिए। इसी प्रकार 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' अर्थात् वायु अतीव शीघ्र-गामी देवता है। इस वायुकी स्तुतिसे वायुदेवता विषयक यज्ञका विधान किया गया है। इसी प्रकार 'उदरमन्तरं कुरुते', 'मृत्योः स मृत्युम्' इत्यादि भेदकी निन्दा करने वाले वचनोंसे यह सूचित होता है कि शास्त्र भेद-दर्शनको हेय मानता है और 'तरति शोकमात्मवित्', 'विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः', 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादि आत्मज्ञानकी स्तुति देखी जानेसे श्रुतिका अभिप्राय आत्मबोधकी उपादेयतामें जान पड़ता है। इसलिए आत्म-

दर्शनसे सम्पूर्ण शोक की निवृत्ति और निरतिशय आनन्दकी प्राप्ति बताना अप्रामाणिक नहीं है ॥३३॥

सकल क्लेशोंकी निवृत्ति और असीम आनन्दकी प्राप्तिमें ब्रह्मबोधकी कारणता केवल प्रमाण सिद्ध ही नहीं, युक्तिसंगत भी है। यही बात अग्रिम श्लोकमें कहते हैं:—

त्यज सङ्गमनात्मभावना-
कृतमङ्गीकुरु सर्वतः शुभाम् ।
प्रियतामवलोकयन्नहं
प्रविराजेऽखिलदेहकेष्विति ॥३४॥

'सकल शरीरोंमें उनकी समस्त अवस्थाओंका प्रकाशन करता हुआ मैं स्वयं साक्षीरूपसे विराजमान हूँ' इस निश्चयका अवलम्बन लेकर अनात्मभावनासे हुई विषयासक्तिको त्याग दो और सर्वत्र प्रियभावको स्वीकार करो। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सूर्यके प्रकाशमें पापी पुरुष पाप करते हैं और पुण्यात्मा मनुष्य शुभ कर्मोंमें तत्पर रहते हैं, परन्तु सूर्यके लिए तो वे दोनों समान ही हैं। उसे न तो पापीसे घृणा है और न सुकृतीका पक्ष-पात है। इसीसे वह पापीको प्रकाश देनेमें उपेक्षा नहीं करता और पुण्यात्माको प्रकाशसम्पन्न करनेमें हर्ष नहीं मानता, क्योंकि वह केवल अपनेको प्रकाश ही मानता है, उन दोनोंके सुकृत-दुष्कृतसे होनेवाले फलोंका भागी नहीं समझता; इसी प्रकार जो पुरुष अपने आपको देह और इन्द्रियादिके व्यापारोंका कर्त्ता न

जानकर केवल साक्षी ही समझेगा उसे कभी किसीके साथ राग-द्वेषका अवसर नहीं आवेगा और इसी कारण वह सारे क्लेशों से छूटकर परमानन्दका अनुभव करेगा ॥३४॥

अब 'अपने-आपको साक्षिस्वरूप माननेका क्या उपाय है' यह बात अगले श्लोकसे बतायी जाती है:—

विजहीहि दुरात्मसङ्गतिं,
कुरु शीलान्वितचेतसाममुम् ।
जय काममुखानिमानरी-
नवधायात्मनि मानसं मुहुः ॥३५॥

दुष्ट पुरुषोंकी सङ्गतिका त्याग करके सर्वदा सुशील और आत्मनिष्ठ पुरुषोंका ही सङ्ग करो तथा उनकी बताई हुई युक्तियों से मनकी आत्माकार वृत्तियोंका प्रवाह चलाकर काम-क्रोधादि आन्तरिक शत्रुओंका नाश कर डालो ।

भाव यह है कि जिस प्रकार लौकिक व्यवहारमें वकालत अथवा डाक्टरी की परीक्षा पासकर लेने पर भी मनुष्य स्वतन्त्र-रूप से अपनी जीविकाका निर्वाह नहीं कर सकता, किन्तु उसे पहले उन कार्योंमें सिद्धहस्त पुरुषोंकी ही संगति करनी पड़ती है, उसके बाद ही वह अपना कार्य करनेके लिए सरकारी प्रमाणपत्र प्राप्त करके कार्य करनेका अधिकारी माना जाता है, इसी प्रकार अणोरणीयान् और अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धिसे ग्रहणकी जाने योग्य

परमात्म वस्तुको प्राप्त करनेका भी एक यही उपाय है कि जिन्होंने परमात्मस्वरूपका साक्षात्कार कर लिया हो ऐसे महापुरुषोंकी सङ्गति करके उनके उपदेश किये हुए उपाय द्वारा अपनेको साक्षिरूपसे निर्णय करे। इसीलिए 'प्राप्य वरान्निबोधत' 'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः' इत्यादि श्रुति स्मृतियाँ गुरूपसत्तिका विधान करती हैं ॥३५॥

गुरूपसदन के पश्चात् विवेक-वैराग्यादि साधनसम्पन्न होकर श्रवण, मनन और निदिध्यासनका वारंवार अनुष्ठान करना चाहिए। यह कहनेके लिए आगामी दो श्लोकोंसे पहले उपलक्षणरूपसे वैराग्यका विधान करते हैं:—

परिभावय भङ्गुरानिमान्
भवभोगानतिदारुणानये ।
व्यथसे किमितीह बालिश
प्रसभं त्रोटय मोहबन्धनम् ॥३६॥

इन सांसारिक विषयोंको क्षणभंगुर होनेके कारण अत्यन्त दुःखके हेतु समझो और उनके रागसे होनेवाले दुःखोंकी निवृत्तिके लिए उनमें पहलेसे उत्पन्न हुए मोह नामक बन्धनको काटकर विरक्तिका सम्पादन करो ॥३६॥

अग्रिम श्लोकसे वैराग्यकी आवश्यकता दिखलाते हैं:—

अवधीरय वीर तानरीन्,
स्वशरीरं नगरीव यैः कृतम् ।
शफरीव विनीरतीरगा,
यदधीरं परिवर्तते मनः ॥३७॥

हे वीर! उन रागद्वेषादि शत्रुओंका बहिष्कार करो, जिन्होंने तुम्हारे शरीरको ही अपनी नगरी बना रक्खा है और जिनके पराधीन होकर तुम्हाराचित्त जलहीन तलैयामें पड़ी हुई मछली की तरह तड़फता रहता है।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार तृप्ति होनेपर उसके साधनीभूत भोजन और उसे सिद्ध करनेवाली सामग्रीका त्याग कर दिया जाता है उसी प्रकार श्रवणादिके पश्चात् वैराग्यादि साधनोंका त्याग नहीं करना चाहिए, क्योंकि उनका त्याग तो तभी हो सकता था जब कि वे केवल श्रवणादिके ही साधन होते, परन्तु ऐसा है नहीं। वैराग्यादि जिस प्रकार श्रवणादिमें उपयोगी हैं उसी प्रकार ज्ञानपरिपाकके हेतु भी वे ही हैं। इसलिए ज्ञानपरिपाक होनेतक उनका त्याग नहीं करना चाहिए। उसके पश्चात् यद्यपि उनका कोई फल नहीं है परन्तु फिर भी वे विद्वान्के स्वभावभूत हो जानेके कारण स्वरूपसे बने ही रहते हैं, तब ज्ञानीको उनके लिए प्रयत्नकी अपेक्षा नहीं रहती तथा बाधक न होनेके कारण उपेक्षा भी नहीं होती। इसलिए श्रवणादिसे पूर्व तो उनमें उपयोगी होने के कारण वैराग्यादिकी अपेक्षा है और उनके बाद ज्ञानपरिपाकके लिए वे अपेक्षित हैं। इस प्रकार

वैराग्यादिका त्याग कभी नहीं हो सकता। इसीसे बार-बार उनका वर्णन किया गया है ॥३७॥

इस प्रकार श्रवणादिकोंमें उपयोगी वैराग्योपलक्षित साधन-चतुष्टयका विधान करके अब आत्मसाक्षात्कारका साक्षात् साधन कहते हैं:—

परिशीलय लीनचेतसा
सततं शास्त्रमिहात्मगोचरम् ।
अचिरादनुलप्स्यसे सुखं,
निजपूर्णत्वमधीत्य तत्त्वतः ॥३८॥

एकाग्रचित्त होकर निरन्तर उपनिषदादि अध्यात्म शास्त्रोंका चिन्तन किया करो, जिससे तुम अपनेआपको पूर्णब्रह्मस्वरूप निश्चित करके शीघ्र ही परमानन्दमें मग्न हो जाओगे।

भाव यह है कि प्रमाका साक्षात् जनक प्रमाण ही हो सकता है, क्योंकि नेत्रादिके बिना घटादिविषयक प्रमाका उदय होना लोकमें नहीं देखा जाता। इसी प्रकार ब्रह्मविषयिणी प्रमा भी प्रमाणजन्य होने पर ही प्रमापदवाच्य हो सकती है किन्तु ब्रह्म रूपरसादि सकल धर्मोंसे रहित होनेके कारण किसी भी लौकिक प्रमाणका विषय नहीं हो सकता। इसलिए शब्दप्रमाणरूप उपनिषच्छास्त्रको ही ब्रह्मप्रमाका जनक मानना होगा। 'तं त्वौपनिषदं पुरुषम्' इत्यादि श्रुतियोंमें ब्रह्मको औपनिषद कह कर भी इसी बात को पुष्ट किया गया है। यद्यपि तार्किका-

दिकोंके सिद्धान्तमें शब्दजन्य ज्ञान अपरोक्ष नहीं माना जाता, अन्यथा स्वर्गादिविषयक शाब्दबोध भी प्रत्यक्ष मानना पड़ेगा, तथापि ब्रह्मप्रमामें किसी अन्य प्रमाणसे अपरोक्षत्व न हो सकनेके कारण शब्द में ही अपरोक्षप्रमोत्पादकत्व मानना अनिवार्य होगा, क्योंकि अपरोक्षरूपसे अनुभवमें आने वाली अविद्याकी निवृत्ति परोक्ष विद्या से नहीं हो सकती। शुक्तिरजतादि स्थलोंमें भी ऐसा नहीं देखा गया। अतः अपरोक्ष अविद्याकी निवृत्ति करने वाली आत्मविद्या अपरोक्ष ही माननी होगी और नेत्रादिको उसके जनक न मानकर पूर्वोक्त युक्ति से तत्त्वमस्यादि शास्त्रको ही मानना होगा। इसलिए तार्किकको भी विवश होकर शब्दमें ही प्रत्यक्ष ज्ञानजनकता अङ्गीकार करनी पड़ेगी ॥३८॥

यद्यपि घटादिप्रमा नेत्रादि प्रमाणजन्य ही है तथापि पित्तादि दोष होनेपर 'पीतः शङ्खः' इत्यादि भ्रमात्मक ज्ञान भी नेत्रादि से ही होता है। इस प्रकार निरपवादरूपसे प्रमाणमें प्रमाकी उत्पादकता नहीं है। इस आशङ्काका समाधान करने के लिए अग्रिम दो श्लोकोंसे श्रवणके सहकारी मननका विधान किया जाता है।

तव नैव कदापि कल्मषं,

धिय एषा गुणदोषकल्पना।

करणं यदि चेष्टते शुभे,

त्वशुभे वाऽप्यथ किं ततस्तव ॥३९॥

मुमुक्षुगण ! साक्षिस्वरूप तुम्हारेमें कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि कोई भी दोष नहीं है और 'मैं करता हूँ' 'मैं भोगता हूँ' इत्यादि प्रतीति तो साक्षिके उपाधिस्वरूप अन्तःकरण में जमें हुए कर्तृत्व-भोक्तृत्व के कारण हो रही है। तुमसे सर्वथा पृथक् अन्तःकरण यदि किसी शुभ अथवा अशुभकर्ममें प्रवृत्त भी हो फिर भी तुम्हारा इसमें किसी प्रकारका हानि-लाभ नहीं होता है।

भाव यह है कि जिस प्रकार जपाकुसुमकी सन्निधिके कारण स्वभावतः श्वेत होनेपर भी, सांसिद्धिकधवल स्फटिकमें 'अरुणः स्फटिकः' इस प्रकार अरुणताका भ्रम होता है किन्तु परमार्थतः वह लालिमाके संसर्गसे शून्य ही रहता है, इसी प्रकार कर्तृत्व-भोक्तृत्व धर्मयुक्त अन्तःकरणकी सन्निधिके कारण 'अहं कर्त्ता भोक्ता, इस प्रकार कर्तृत्व-भोक्तृत्वविशिष्ट प्रतीत होनेपर भी साक्षिचैतन्य वस्तुतः उन धर्मोंसे रहित ही रहता है ॥३९॥

वस्तुतः आत्माको कर्तृत्वादिधर्मविशिष्ट माननेवालोंके मतमें अन्तःकरण अथवा इन्द्रियगण ही आत्मा हैं। ऐसा माननेमें श्रुति से विरोध आता है। अतः आगेका श्लोक उनके मतका निराकरण करता है:—

न खलु त्वमसीह शेमुषी,
न गणस्त्वं करणात्मनामपि ।
अपि तु प्रभुरद्भुतः सदाऽ-
स्त्यदसीयः परिभासको भवान् ॥४०॥

तुम्हारा स्वरूपभूत साक्षिचैतन्य बुद्धिसे भिन्न है। 'अहं बुद्धया विजानामि' (मैं बुद्धिसे जानता हूँ) इस प्रतीतिके कारण बुद्धि विज्ञानक्रियाके प्रति करणरूपसे सिद्ध होती है और आत्मा उस क्रियाके प्रति कर्तारूपसे सिद्ध होता है, तथा करण कभी कर्त्ता नही हो सकता। जैसे कि दण्ड कभी कुलालरूप नहीं हो सकता। यदि बुद्धिको ही आत्मा माना जाय तो उसके लिए किसी अन्य करणकी कल्पना करनी होगी। इसके सिवा आत्मामें अनित्यता आदि दोष भी अवश्य मानने पड़ेंगे। इसी तरह इन्द्रियाँ भी आत्मा नहीं हो सकतीं, क्योंकि इसमें तो कोई विशेष युक्ति दी नहीं जा सकती कि अमुक इन्द्रियको ही आत्मा माना जाय और अन्य इन्द्रियोंको आत्मा न मानें। इसलिए लाचार होकर सभी इन्द्रियोंको आत्मा मानना होगा। ऐसा मानने पर भी उनकी गौणता और प्रधानतामें कोई प्रमाण न होनेसे सबको स्वयं प्रधान ही मानना पड़ेगा। ऐसी स्थितिमें यदि एक इन्द्रिय की इच्छा जाने की हुई और उसी समय दूसरीकी इच्छा ठहरनेके लिए हुई तो ऐसे समय में शरीरको या तो दोनोंसे विरोधके कारण पीड़ित होना होगा या अक्रिय रहना पड़गा और देखनेवालों तथा स्पर्श करनेवालोंमें भेद रहनेके कारण 'योऽहमद्राक्षं स एवाहमिदानीं स्पृशामि' इत्यादि सर्वलोक प्रसिद्ध प्रतीतियोंको भी भ्रमरूप मानना पड़ेगा और इस पक्षमें पूर्वोक्त अनित्यतादि दोष भी आ ही जायँगे। इसलिए इन्द्रियाँ भी आत्मा नहीं हैं, किन्तु सदा एकरस रहनेवाला तथा मन-बुद्धि आदिका प्रेरक और उनके

उदय एवं अस्तको प्रकाशित करनेवाली जो चैतन्यघन मात्र वस्तु है वही आत्मा है और उसमें कर्तृत्वादि धर्म बुद्धि आदि उपाधियों की सन्निधिके कारण प्रतीत होते हैं। वस्तुत: उसमें किसी भी धर्म का गन्ध तक नहीं है।

भाव यह है कि जिस प्रकार कोई नेत्रदोष न होनेपर केवल चक्षु ही से घटादिगोचर प्रमा उत्पन्न हो सकती है। अत: असम्भावनादि दोषोंका उदय न होनेपर केवल श्रुतिका शब्द ही ब्रह्मविषयिणी प्रमा उत्पन्न कर देगा। दोषका साथ रहनेपर जैसे उसके निवारणके लिए दृष्टान्तमें दूसरे प्रयत्नका आलम्बन करना पड़ता है। इसी प्रकार दार्ष्टान्तिकमें भी पूर्वोक्त युक्तियोंसे पहले ब्रह्मात्मैक्यके विषयमें असम्भावनादि दोषोंका निराकरण करके शब्दसे प्रमा उत्पन्न होगी ॥४०॥

इस प्रकार मननके सहित श्रवण अथवा केवल श्रवणसे ब्रह्मात्मैक्य विषयके यथार्थ बोधका प्रतिपादन किया गया। परन्तु जो अधिकारी बुद्धिकी स्थूलता अथवा विक्षेपकी अधिकताके कारण श्रवण-मननका यथावत् अनुष्ठान न कर सकें उनको पहले उस प्रतिबन्धकको दूर करनेके लिए निदिध्यासनका विधान करनेके लिए आगेके दो श्लोक कहे जाते हैं:—

अवहेलय भेदकल्पना-

मवलोकस्व समस्तमात्मनि ।

सकले च निबोध निष्कलं

सुखचैतन्यमनन्तवैभवम् ॥४१॥

भेदबुद्धिका त्याग करके सम्पूर्ण संसारको अपने आत्मामें ही अधिष्ठित समझो तथा सुखचैतन्यैकरस, दिक्कालवस्तुपरिच्छेद-शून्य एवं अविद्या और उसके कार्यसे रहित आत्माको अधिष्ठान रूपसे सर्वत्र विद्यमान देखो।

'मैं सर्वस्वरूप हूँ और सारा जगत् मेरेमें ही स्थित है' इस प्रकारके अनुभवका नाम आत्मसाक्षात्कार है। साक्षात्कार होनेसे पूर्व अपने प्रयत्न द्वारा वैसी वृत्ति करनेकी चेष्टा करना निदिध्यासन है। इस प्रकार दीर्घकाल नैरन्तर्य और सत्कारपूर्वक निदिध्यासनकी आवृत्ति करनेसे अन्तःकरण वैसी शाब्दवृत्तिके उदयके योग्य हो जायेगा। तब पहले सुना हुआ शब्द ही प्रमाका जनक हो जायगा ॥४१॥

महिमा तव चैष शाश्वतो
नहि पुण्ये सति वर्द्धते मनाक्।
ह्रसते वृजिने न पूर्ववत्,
प्रथते तत्कृतकृत्यको भवान् ॥४२॥

आत्माकी विशेषता यही है कि न तो पुण्यकर्मसे उसमें कोई उत्कर्ष होता है और न पापकर्मसे किसी अपकर्षकी ही प्राप्ति होती है, किन्तु दोनों ही अवस्थाओंमें पूर्ववत् अपने स्वरूपमें स्थित रहकर समस्त जड़वर्गको प्रकाशित करता रहता है। हे जिज्ञासुवर्ग ! इस प्रकार तुम अपने आत्माकी भावना करते हुए एक दिन अवश्य उस आत्मदेवका साक्षात्कार करओगे और फिर

तुमको कोई कर्तव्य शेष न रहनेके कारण सर्वदा परमानन्दका अनुभव होता रहेगा। ४२॥

जिनका चित्त निदिध्यासनमें आसक्त न हो उनको निराकार चिन्तन करना हितकर है। यह कहनेके लिए अग्रिम श्लोक है:—

प्रतिघस्त्रमधीष्व शान्तये
ननु शान्तीरनुवेदमुद्गताः।
रहसि प्रणिचिन्तयस्व च,
प्रणवं तत्प्रवणेन चेतसा ॥४३॥

साधकवर्ग ! अपने चित्तको निदिध्यासन के योग्य बनानेके लिए तुम अलग-अलग वेदोंमें आये हुए शान्ति-पाठका प्रतिदिन पाठ करो और निर्जन स्थान में तत्पर होकर प्रणव का अभ्यास करो।

तात्पर्य यह है कि अनादिकालसे चित्तको नाम-रूपके चिन्तन का अभ्यास पड़ा हुआ है। इसी कारणसे वह नामरूपसंसर्गहीन निरालम्बावस्थारूप निदिध्यासनका सहसा अनुष्ठान नहीं कर सकता। यहाँ तक कि अधिकांश जिज्ञासु तो यह समझ भी नहीं सकते कि चित्तका निरालम्ब रहना क्या है। इसलिए उनको पहले नामरूपमेंसे रूपांशको छोड़कर केवल नामात्मक प्रणवका चिन्तन करना चाहिए। जब चित्त रूपांशको त्यागकर केवल नामांशके आलम्बनसे स्थिरता ग्रहण करने लगे तो फिर शनैः शनैः नामांश

को भी त्यागकर निरालम्बावस्थारूप निदिध्यासनका अभ्यास करनेसे अभिलषित लक्ष्यकी प्राप्ति हो जायगी ॥४३॥

परन्तु जिनका चित्त नाम और रूप दोनों अंशोंमें से एकको भी न त्याग सके उनको चाहिए कि सबसे पहले नाम रूपका ही चिन्तन करें। वे लौकिक नामोंके स्थानमें भगवन्नामका और लौकिक रूपोंके स्थानमें भगवद्रूपका चिन्तन करें। यह बात आगेके दो पद्योंसे कही जायगी:—

अयि चिन्तय चेतसा चिरं
क्वचिदम्भोदविनीलगात्रकम्।
सकलेन्दुसमाभवक्त्रकं
मधुरं श्रीवनमालिनं मुदा ॥४४॥

अयि साधकगण! यदि तुम्हारा चित्त नामरूपचिन्तनका ही रसिक है तो तुम निरन्तर मन ही मन श्री कृष्णचन्द्रकी घनश्याम एवं पूर्णचन्द्र के समान मुखवाली, मनोहर मूर्तिका ही चिन्तन किया करो तथा भगवान्के नामोंका ही स्मरण करो।

भाव यह है कि जिस प्रकार धनुर्वेदका विद्यार्थी पहले स्थूल लक्ष्यका वेधन करता है और उसके पश्चात् कालान्तरमें सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम, इस क्रमसे वह इतना सिद्धहस्त हो जाता है कि चलते-फिरते लक्ष्योंका वेधन करना भी उसे आसान प्रतीत होने लगता है, इसी प्रकार प्राथमिक साधकको भी सबसे पहिले स्थूल पाञ्चभौतिक भगवत्स्वरूपका ही चिन्तन करना चाहिए

और उसके पश्चात् निराकार चिन्तन करते हुए चित्तको निरालम्ब स्थितिमें ले जाना चाहिए। यही विषय पुराणमें कहा है:—

'शार्ङ्गचक्रगदाखड्गशङ्खाक्षवलयान्वितम्।
चिन्तयेत्तन्मयो योगी समाधायात्ममानसम्॥ १॥
ततः शङ्खगदाचक्रशार्ङ्गादिरहितं बुधः।
चिन्तयेद् भगवद्रूपं प्रशान्तं साक्षसूत्रकम्॥ २॥
यदा च धारणा तस्मिन्नवस्थानवती भवेत्।
तदैकावयवं देवे सोऽहं चेति पुनर्बुधः॥ ३॥
कुर्यात्ततो ह्यहमिति प्रणिधानपरो भवेत्॥'

इस प्रकार स्थूलादि ध्यानके क्रमसे जब चित्त निरालम्ब होकर स्थिर रहने लगे तब निदिध्यासनद्वारा पहले मननपूर्वक सुना हुआ महावाक्य अप्रतिबद्धरूपसे करामलकवत् ब्रह्मका अपरोक्ष बोध उत्पन्न कर देता है, जहाँ जाकर 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' इस वाक्यसे भगवान् ने समस्त कर्मोंकी समाप्ति कही है ॥४४॥

बहुधा देखा जाता है कि अपनेको विष्णुभक्त माननेवाले पुरुष शिवकी निन्दा किया करते हैं और शिवका अभिमान रखनेवाले विष्णुको प्रणाम करना पाप समझते हैं। ऐसी ही दशा अन्यान्य देवताओंकी आराधना करनेवालों की भी है। उनके चित्तसे ऐसे कुसंस्कारोंके हटाने केलिए आगेका पद्य है:—

अपि भावय भूधरोपमे,
वृषभे रूढमगूढविग्रहम् ।
भसितेन विभूषितं जटा-
स्खलदम्भः पृथुपूरमीश्वरम् ॥४५॥

यदि आपका चित्त भगवान् कृष्णकी मनोहर मूर्त्तिके ध्यानमें रुचि नहीं रखता तो भगवान् शङ्करके सच्चिदानन्द स्वरूपका ध्यान करो जो पर्वतके समान विशाल बैलपर चढ़े हुए हैं जिनकी जटाओंसे भगवती भागीरथीका प्रवाह बड़े वेगसे बह रहा है और जिनका देह भस्मसे धवलित हो रहा है । यदि उसमें भी चित्तकी प्रवृत्ति नहीं है तो किसी अन्य इष्टदेवके विग्रहका चिन्तन करो ।

तात्पर्य यह है कि मार्गमें चलनेवाले पुरुषको सहारेके लिए लाठीकी आवश्यकता होती है। वह लाठी चाहे काठकी हो चाहे किसी धातुकी उसका और कोई प्रयोजन नहीं होता, उसे जैसा सहारा काठकी लाठीसे मिल सकता है, उससे अधिक धातुकीसे भी नहीं मिल सकता । इसी प्रकार चित्तको स्थिर करनेके लिए हमें किसी आलम्बनकी आवश्यकता है। वह चाहे कृष्ण प्रतिमा हो अथवा शिवमूर्ति—इसमें आग्रहकी आवश्यकता नहीं है । जिस का चित्त जिस विग्रहमें अधिक प्रेम रखता हो उसे उसी विग्रहका ध्यान श्रेयस्कर होगा, क्योंकि चित्तकी स्थिरता होनेपर तो उसका त्याग ही करना पड़ेगा । इसलिए किसी देवविग्रहमें तारतम्य समझना अविवेक है, उससे सफलता नहीं मिल सकती । योग

सूत्रोंके रचयिता भगवान् पतञ्जलिजी ने भी इसी अभिप्रायसे 'यथाभिमतध्यानाद्वा' इस सूत्र का निर्माण किया है, जिसका अर्थहै कि अपने को अभीष्ट किसी भी देवताके स्वरूप का ध्यान करनेसे चित्तको स्थिर किया जा सकता है। इसलिए हमको चाहिए कि सब देवोंमें समान भाव रखकर अपने लक्ष्यका ध्यान रखते हुए इष्टदेवका ध्यान करें ॥४५॥

बहुत लोग कहते हैं कि जो लोग दुःखी हैं, निर्धन हैं और किसी भी कार्यको करनेमें समर्थ नहीं हैं उन्हींको अपनी दुःखोंकी निवृत्तिके लिए ईश्वर का भजन करनेकी आवश्यकता है। परन्तु जिनके पास पहिलेसे ही पर्याप्त ऐश्वर्य हैं, शरीरमें पुष्कल बल है और जिनका आधिपत्य भी अप्रतिहत है उनको भगवद्-भजनकी कोई आवश्यकता नहीं है—इत्यादि। इस आक्षेपका समाधान अगले श्लोकसे करते हैं:—

दुधुवुर्गमनेन मेदिनी-
मपि ये रावणतत्सुतादयः ।
इह तेऽपि यमेन चर्विताः ।
क्व वयं कीटपतङ्गसन्निभाः ॥४६॥

जिनके चलनेसे ही पृथ्वी कांपने लगती थी ऐसी शारीरिक शक्ति रखनेवाले भी रावण और उसके पुत्र-पौत्रादि अन्तमें काल के गालमें चले गये, फिर मच्छर और मक्खियोंके समान हम लोगोंकी तो बात ही क्या है।

तात्पर्य यह है कि अतुलित ऐश्वर्यवान् और त्रिलोकविजयी रावणादिके समान आधुनिक प्रजामें न तो बल है और न धन ही है। वे भी जब नष्ट हो गये तब हमारे नाशमें तो संदेह ही क्या है ? इसलिए हमको उस महाबलशाली कालसे अपनी रक्षा करने के लिए 'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः' उससे भी बली 'भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः' इस श्रुतिके अनुसार भगवान् की शरण लेनी चाहिए। सांसारिक सुखोंकी प्राप्ति उसका फल नहीं है। हाँ, वह उसका आनुसङ्गिक फल हो सकता है। इसलिए प्रत्येक पुरुषको कालके गालमें प्रवेश करनेसे बचनेके लिए भगवद्भजन का आलम्बन लेना चाहिए ॥४६॥

किन्हींका कथन है कि भगवद्भजन करना तो अवश्य चाहिए, परन्तु हम उसे सांसारिकसुख भोगनेके अनन्तर वृद्धावस्थामें कर लेंगे इसका उत्तर अगामी पद्यसे देते हैं—

तदुदेधि यतस्व सत्वरं
निजनिःश्रेयसहेतवे स्फुटम् ।
विगते सति मानवे वपु-
ष्यभिलष्यन्नपि किं करिष्यसि ॥४७॥

यदि मृत्युसे बचनेका उपाय केवल भगवद्भजन ही है तो उठों और शीघ्र ही अपने कल्याणके साधनका अनुष्ठान करो, क्योंकि सर्व साधनोंके करनेमें समर्थ मनुष्यशरीरका नाश होनेपर तुम चाहते हुए भी कुछ नहीं कर सकोगे।

भाव यह है कि जो पुरुष सर्व प्रकारकी औषधियोंसे भरे हुए औषधालयमें रहकर भी अपने रोगोंकी चिकित्सा नहीं कर सका वह औषधहीन स्थानमें जाकर कर लेगा यह कभी सम्भव नहीं हो सकता। इसी प्रकार जो कि मृत्युरूप व्याधिका चिकित्सास्थल है, उस मानव शरीरके रहते हुए जब हम जरामृत्युरूपरोगकी निवृत्ति नहीं कर सके तब इसके अयोग्य अन्य शरीरोंको पाकर कर लेंगे यह कैसे सम्भव हो सकता है? अतः प्रत्येक मुमुक्षुको उचित है कि जबतक उसका शरीर नीरोग है तभी तक अपने श्रेयके लिए उसे जो कुछ करना हो करले, क्योंकि रोगाक्रान्त होने पर कुछ नहीं किया जा सकता। इसी अभिप्राय को किसी कवि ने भी—

'न व्याधयो न वा मृत्युः श्रेय.प्राप्ति प्रतीक्षते।
यावदेव भवेत्कालस्तावच्छ्रेयः समाचरेत्॥'

इस श्लोक में स्पष्टतया प्रतिपादित किया है॥४७॥

यावज्जीवन साकारोपासना करना ही श्रेयस्कर नहीं है, किन्तु जब ध्यानके बलसे चित्त सूक्ष्मतम वस्तुको ग्रहण करने में समर्थ हो जाय तब किसी ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी शरणमें जाकर निर्गुण ब्रह्मके साक्षात्कारके लिए चेष्ठा करनी चाहिए। यह विषय अग्रिम श्लोकसे कहते हैं:—

नात्यन्तं कुरु सहसा जनैरबोधै-

रासङ्गं व्रज विदतां समीपमाशु ।

उत्कर्षैरथ धिषणां निजाममीषा-

मीशानैरपवदितुं वचोभिरान्ध्यम् ॥४८॥

अज्ञानी पुरुषोंके सहवासमें ही आयु को बिताते रहना उचित नहीं है शीघ्र ही श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरुओंकी सेवामें उपस्थित हो जाओ तथा उनके प्रामाणिक और उपपत्तिपूर्ण वचनों का अवलम्बन लेकर अपने हृदयपटलमें फैले हुये मोहतिमिरको दूर करनेके लिए अपनी बुद्धिमें सामर्थ्य सम्पादन करो।

तात्पर्य यह है कि जिस पुरुषने कभी सिंह नहीं देखा वह यदि वनमें जाकर उसे अपने नेत्रों से देख भी ले तो भी कोई जब तक दूसरा पुरुष 'यह सिंह है' ऐसा न बतादे तबतक उसे सिंहका पूर्ण निश्चय नहीं होता। इसी प्रकार साकारचिन्तनसे जब अन्तःकरण आत्मदर्शन में समर्थ हो जाय तो अवश्य गुरुके समीप जाना चाहिए, नहीं तो तुम्हें परमात्माका पूर्ण निश्चय नहीं हो सकेगा ॥४८॥

यदि श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी प्राप्ति न हो तो निर्गुण आत्माकी उपासना करनी भी हितकर है—यह कहने के लिए आगेका पद्य है:—

वीताशो भवविमलाशयः समस्मिन् ।
स्फीताशः स्थिरसुखदे पदे नितान्तम् ।
प्रध्यायेरथ विशदं विशोकमेकं,
स्वात्मानं विभुमखिलान्तरात्मभूतम् ॥४६॥

सांसारिक विषयोंसे सुखप्राप्तिकी दुराशा छोड़कर शुद्धान्तःकरण हो सर्वात्मभावस्वरूप नित्यनिरतिशयसुखप्रद पदकी तीव्र आकाङ्क्षा रखते हुए स्वयंप्रकाश, सकलदूषणरहित, एक विभु और समस्त प्राणियोंके अन्तरात्मस्वरूप अपने प्रत्यगात्मा का निरन्तर ध्यान किया करो। इस निर्गुणोपासनासे भी निर्गुण-तत्त्वका साक्षात्कार हो जायगा।

तात्पर्य यह है कि यद्यपि उपासना कोई प्रमाण नहीं है इसलिए उससे होने वाला ज्ञान प्रमारूप नहीं हो सकता तथापि जिस प्रकार कोई पुरुष रात्रिमें खद्योतको मणि समझकर लेने के लिए जाय और वहाँ जाने पर खद्योत तो उड़ जाय, किन्तु पास ही पड़ा हुआ मणि मिल जाय तो इस संवादिभ्रम-की तरह उपासनाजन्यज्ञान स्वयं भ्रमरूप होता हुआ भी ब्रह्मप्रमाका प्रयोजक हो सकता है ॥४६॥

बहुतसे लोग कहा करते हैं कि 'मोक्ष में क्या रक्खा है जैसे पत्थर निष्क्रिय, कूटस्थ और शीतोष्ण की प्राप्तिमें एकरस रहता है उसी प्रकारका ब्रह्मभावात्मक मोक्ष है। इसलिए उसके लिए उद्योग करना पूरा अविवेक ही है'—इत्यादि। जो कुछ उन

से भी अधिक पण्डितम्मन्य हैं उनका कथन है कि भले ही ब्रह्म आनन्दस्वरूप है परन्तु जैसे मिश्रीका आनन्द तो उससे भिन्न उसका आस्वादन करने वाला ही ले सकता है मिश्रीस्वरूप होने पर वह आनन्द नहीं मिल सकता इसी प्रकार ब्रह्म से पृथक् रह कर ही उसका आनन्द लिया जा सकता है, यदि ब्रह्मस्वरूप ही हो गये तो क्या आनन्द का अनुभव होगा इसलिये मुक्तिके लिए सारे प्रयत्न निरर्थक ही हैं । इन दोनों मतवादियों का अग्रिम दो पद्यों से समाधान करते हैं:—

पश्येदं जगदखिलं निजात्मनि त्वं
मिथ्याभं मरुकिरणेष्विवोत्थमम्भः ।
संरम्भं त्यज तदिह स्वयंप्रकाशो
भासि त्वं ननु बहुधा किमीहसे भोः ॥५०॥

तुम इस सकल संसार को, मरुप्रदेश में पड़ी हुई सूर्यकी किरणों में दिखाई देनें वाले जलके समान, आत्मामें कल्पित समझो और संसारके मिथ्यापदार्थों के भोगने में जो तुम्हारी प्रवृत्ति है उसे त्याग दो, देखो तुम्हारा स्वरूपभूत चैतन्य स्वयंप्रकाश होनेके कारण निरन्तर भासमान रहता है। उसे त्यागकर तुम और क्या चाहते हो ? ॥५०॥

यदि कहो कि हमें आनन्दकी आवश्यकता है । आत्मा स्वयंप्रकाश है तो रहे, आनन्दहीनके कारण वह भी हेय है। तो उसका उत्तर देते हैं:—

कल्याणं तव विमलं महत्स्वरूपं
ध्यायन्ति स्फुटमनिशं मुनीशमुख्याः ।
पुण्याघे त्वयि नतरामपि प्रथेते
माऽहन्तामिह जडतावति प्रसंघीः ॥५१॥

तुम्हारा स्वरूपभूत आत्मा लेशमात्र दुःखके संसर्गसे शून्य और निरतिशय आनन्दरूप है। इसी से नित्य और निरतिशय आनन्द माननेकी इच्छावाले प्राचीन ऋषि-मुनियोंने भी ध्यान और चिन्तनआदिके द्वारा उसीका साक्षात्कार करके अपनेको कृतकृत्य माना था। उस तुम्हारे स्वरूपमें पुण्य-पापका लेप भी नहीं होता, किन्तु इस जड़-शरीरमें अहन्त्वका अध्यास होने से उस में इन सब विरोधी गुणोंकी प्रतीति होती है। इसलिए सब अनर्थोंके मूल इस देहात्मत्वनिश्चयका त्याग करो।

तात्पर्य यह है कि यद्यपि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चारों ही पुरुषार्थ पदके वाच्य माने जाते हैं तथापि यदि सूक्ष्मदृष्टिसे विचार किया जाय तो सिद्ध होता है कि वस्तुतः पुरुषार्थ पदसे कहे जाने योग्य कैवल्य ही है। उससे भिन्नोंमें इस शब्दकी प्रवृत्ति बालकमें अग्नि शब्दकी प्रवृत्तिकी तरह गौणी वृत्तिसे है, क्योंकि पुरुषोंकी निरुपाधिक इच्छाका विषयभूत पदार्थ ही पुरुषार्थपदका मुख्य अर्थ हो सकता है और वह केवल मोक्ष ही है कारण कि एक तो वह प्राणिमात्रको अभिलषित है दूसरे उसमें जो इच्छा है वह किसी अन्य निमित्त से नहीं है। अतः

प्राणीमात्रका अभीष्ट होनेके कारण तथा अपनेसे भिन्न किसी अन्य इच्छाके अधीन न रहनेवाली इच्छाका विषय होनेके कारण मोक्ष ही वास्तविक पुरुषार्थ है।

यदि कहें कि 'पशु-पक्ष्यादि तथा नास्तिकलोग मोक्ष नहीं चाहते, यदि चाहते तो उसके लिए प्रयत्न भी करते इसलिए मोक्षमें प्राणिमात्रःकी इच्छाकी विषयता नहीं है' इत्यादि तो इस पर हम कह सकते हैं कि मोक्षके यथार्थ स्वरूपको न जाननेके कारण ही ऐसी शंका होती है। उसका यथार्थ स्वरूप समझ लेने पर इस शंकाके लिए स्वयं ही अवकाश नहीं रहेगा। मोक्ष स्वर्गादिके समान कोई लोकान्तर नहीं है किन्तु नित्य निरतिशय-आनन्द और सकल दुःखोंकी आत्यन्तिकनिवृत्ति ही मोक्ष कहलाती है। अब बताइये ऐसा कौन प्राणी है जो इसे नहीं चाहता। किसी दुःखाक्रान्तको यदि उसका दुःख दूर करनेके लिए हम औषध देनेसे पूर्व यह कह दें कि 'इस औषधसे तुम्हारा रोग एक सप्ताहके लिए हट जायगा किन्तु सप्ताहके पश्चात् वह तुमको फिर दबा लेगा और इस दूसरी औषधिके सेवनसे तुम्हें यह रोग आजन्म नहीं होगा, परन्तु इसका मूल्य बहुत है अब बताओ तुम्हें कौन-सी औषध दी जाय' तो निःसन्देह वह पुरुष दूसरी औषधि ही लेगा। इससे सिद्ध है कि आध्यात्मिकादि तीनों तापों की आत्यन्तिकी निवृत्ति ही सबको अभीष्ट है। इसी प्रकार सबकी यही इच्छा रहती है कि हमको सबकी अपेक्षा अधिक सुख हो और वह सर्वदा बना रहे। इससे यह स्पष्ट है कि सबको नित्य-

निरतिशय सुख ही अभीष्ट है और यही दो मोक्षके स्वरूप हैं। अतः यह निर्विवाद सिद्धान्त है कि मोक्षकी अभिलाषा सबको है, तथा उसकी इच्छा भी अन्य इच्छाके अधीन न होनेके कारण निरुपाधिक है, अतः सबको अभिलषित और निरुपाधिक इच्छाका विषय होनेके कारण मोक्षको ही पुरुषार्थ शब्दका मुख्य अर्थ मानना सर्वथा उपपन्न है। उससे भिन्न फलोंमें तो 'फलेच्छा उपायमुपसंक्रामति' इस नियमके अनुसार सुखेच्छाके कारण ही जीवोंकी इच्छा है। इसलिए वह सोपाधिक या गौण इच्छा है। इतर पदार्थ प्राणिमात्रको अभिलषित भी नहीं हैं। किन्तु जिसकी जिसमें सुखसाधनत्वबुद्धि है उसी पुरुषकी उस में इच्छा है, दूसरेकी नहीं। अर्थ और धर्मको मनुष्य चाहता है, परन्तु पशु-पक्षी नहीं चाहते। इसी प्रकार कामको अत्यन्त वृद्ध अथवा शिशु नहीं चाहते, युवा चाहते हैं तथा पुत्र-कलत्रादि पदार्थों में भी समस्त प्राणियोंकी इच्छा नहीं होती। इससे स्पष्ट है कि मोक्षेतर पदार्थोंमें गौण इच्छा है और वह सर्वाभीष्ट भी नहीं है। इसलिए उन्हें पुरुषार्थ शब्दके मुख्यार्थ न समझकर गौणार्थ ही मानना चाहिए। मोक्षको परम पुरुषार्थ कहना और धर्मादियोंको केवल पुरुषार्थ कहना इसी बातका समर्थक है। वह परमपुरुषार्थ भूत मोक्ष ब्रह्मस्वरूप है, क्योंकि शास्त्रोंमें ब्रह्मको आत्यन्तिक दुःख निवृत्तिसे उपलक्षित नित्यनिरतिशय आनन्दस्वरूप ही माना है। अतः ब्रह्मप्राप्ति और मोक्षप्राप्ति एक ही चीज़ है।

परन्तु यदि वह ब्रह्मस्वरूप मोक्ष अज्ञात रहे तब भी वह

पुरुषार्थ नहीं होगा। इसीलिए उसे शास्त्रोंमें अपने आत्मासे अभिन्न रूपसे प्रतिपादित किया है, क्योंकि आत्मा कभी किसीको अज्ञात नहीं रहता, सभी अपने आपको जानते हैं। अतः उससे अभिन्न ब्रह्मस्वरूप मोक्ष भी सदा अपरोक्ष रहनेके कारण पाषाणप्राप्तिके तुल्य नहीं हो सकता, उसके साधनोंमें मतभेद होनेके कारण ही पुरुषोंकी भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियाँ हो रही हैं। जैसे दो पुरुष किसी उग्र पापके कारण अपने नगरमें कलङ्कित हो जायँ और उस कलङ्कसे बचनेके लिए एकतो विषभक्षणादिके द्वारा अपना देहान्त करले और दूसरा देशत्यागकर ही अपना पीछा छुड़ाले तो वहाँ फल तो अपनी अपकीर्ति न सुननारूप एक ही है तथापि मरण और देशत्यागरूप साधन भिन्न-भिन्न हैं। इसी प्रकार मोक्ष-रूप एक ही फलके लिए वादियोंने अनेकों उपायोंकी कल्पना की है। परन्तु जिस प्रकार दृष्टान्तस्थलमें मरण अथवा देशत्याग पापनिवृत्तिका साधन नहीं है किन्तु शास्त्रोपदिष्ट प्रायश्चित्तादि ही उसका यथार्थ साधन है उसी प्रकार दार्ष्टान्तिकस्थलमें भी वैदिक साधन ही मोक्ष प्राप्तिके यथार्थ साधन हैं। उनसे भिन्न और सब साधनाभास हैं। इसलिए मुमुक्षु को उचित है कि अन्य वादियोंके कल्पना किए हुए साधनाभासों को छोड़कर वैदिक साधनोंके अनुष्ठानमें ही तत्पर रहे ॥५१॥

पूर्व ग्रन्थमें मोक्षका यथार्थ स्वरूप वर्णन करनेसे ज्ञात हुआ कि वह सबको अभीष्ट तथा स्वयंप्रकाश और निरतिशय सुखस्वरूप पदार्थ है। इसलिए 'मोक्षकी कामना करना पत्थर बननेकी कामना

करनेके समान है तथा मिश्री बनकर जैसे मिश्रीका स्वाद नहीं लिया जा सकता उसी प्रकार ब्रह्म बनकर ब्रह्मानन्द का अनुभव करना सर्वथा गगनकुसुमके समान है' इत्यादि सब आक्षेपोंका इससे समाधान हो गया, क्योंकि दृष्टान्तस्थलमें मिश्री जड़ होनेके कारण माधुर्यका अनुभव नहीं करती। परन्तु मोक्ष स्वयं प्रकाश सुखरूप होनेसे कभी अज्ञात नहीं रह सकता। इसलिये उसके प्रधान साधन आत्मसाक्षात्कारके लिए प्रत्येक मुमुक्षुको विवेक वैराग्यादि साधनचतुष्टयका सम्पादन करना चाहिये। यह कहने के लिए आगेका श्लोक प्रवृत्त होता है :—

वैराग्यं पृथु बिभृहि स्मराखिलं भो
दुःखाढ्यं क्षणविरसं चलं च दृश्यम्।
स्पृश्यन्तामिह विषया यथौषधं स्यान्
नैराश्यं श्रय नितरामुदास्स्व नित्यम् ॥५२॥

अयि मुमुक्षुवर्ग! समस्त दृश्यको क्षणभंगुर, विरस और दुःखपूर्ण देखते हुए परवैराग्यको धारण करो। शरीरस्थितिके प्रयोजक आहार-विहारादि को भी क्षुधा-पिपासा रूप रोगके निवारणके लिए औषधरूपसे सेवन करो और सम्पूर्ण सांसारिक विषयोंसे सुखप्राप्तिकी आशा छोड़कर प्रारब्धवश इष्ट या अनिष्ट प्राप्त होनेपर भी उदासीन वृत्ति धारण करो।

भाव यह है कि जैसे बिना सीढ़ियोंके महलकी छत पर

चढ़नेके लिए पहले चढ़नेके साधनस्वरूप सीढ़ियोंको बनानेकी आवश्यकता है, बिना उसे बनाये चढ़नेका प्रयत्न करना व्यर्थ समय खोना ही है इसी प्रकार मोक्षकी प्राप्ति के लिए उसके साधनोंका अनुष्ठान करना ही श्रेयस्कर है, साधनानुष्ठान न करके किसी अन्य प्रकारसे उसे पानेकी चेष्टा करना व्यर्थ ही है। इसीसे बार-बार साधनोंका उपदेश किया गया है। अतः प्रत्येक मुमुक्षुको व्यर्थकालक्षेप न करके साधनानुष्ठानमें तत्पर हो जाना चाहिये ॥५२।

जिस प्रकार रथ और घोड़े सारथिके अधीन रहते हैं, रथीके नहीं, रथी यदि किसी अभीष्ट स्थल पर रथको पहुँचाना चाहे तो वह सारथिकी प्रसन्नता से ही ऐसा कर सकता है यदि सारथि अप्रसन्न हो तो उसको किसी गढे अथवा जंगलमें ले जा सकता है। इसी प्रकार जीवरूप रथीके पास इन्द्रियरूप घोड़े हैं, उनके चालक परमात्माकी शक्ति इन्द्रियोंके अधिष्ठाता सूर्यादिक देवगण सारथि हैं। अब हम यदि अपने घोड़ोंको कैवल्यपथपर चलाना चाहें तो हमको आवश्यक है कि उन देवरूप सारथियोंकी प्रसन्नता सम्पादन करें। उन प्रत्येककी प्रसन्नता का उपाय परमेश्वरकी प्रसन्नता है, क्योंकि 'एतस्यैव सा विसृष्टिः' इस श्रुतिके अनुसार सब देवगण परमेश्वररूप वृक्षकी ही शाखायें हैं और मूलके तृप्त होनेसे शाखाओंका तृप्त होना लोकमें प्रसिद्ध ही है। अतः आगेके दो पद्योंसे परमेश्वर की प्रसन्नताके साधनका निरूपण करते हैं:—

वात्सल्यं यदि सततं प्रवर्तयेथा
भूतानामिह करुणाविशारदः सन् ।
निःसङ्गो हृदि नितरामपि स्वशक्त्या,
लोकानामुपकृतये घटस्व विद्वन् ॥५३॥

यदि करुणापूर्ण हृदयके कारण तुम प्राणियोंपर दया रखते हो तो विवेक-वैराग्यादिके बल से सदा निःसङ्ग रहकर लोगोंका उपकार करो ॥५३॥

क्योंकि—

नैतस्मादधिकमिहास्ति विद्वदर्हं
विद्याभिर्य उ जनतातमोनिवर्हः ।
क्लिश्यन्ते ननु जगतां कृते महान्तो
दृष्टान्तोऽमृतकिरणादयस्तवामी ॥५४॥

विद्याके द्वारा जनताके हृदयाकाशमें फैले हुए अन्धकारको दूर करनेसे बढ़कर विद्वानोंके लिए कोई और कर्त्तव्य नहीं है। देखो, सूर्य-चन्द्रमा आदि संसारके कारण ही राहु प्रभृतियोंसे पीड़ित होते हैं।

भाव यह है कि जैसे यज्ञदत्तके कार्यमें देवदत्त सहायता करे तो वह यज्ञदत्तका प्रिय बन जाता है इसी प्रकार दीन-दुःखी पुरुषोंकी

काम-काज और धनादिके द्वारा यथाशक्ति रक्षा करनेवाला पुरुष परमेश्वरका प्रिय हो सकता है, क्योंकि दीनरक्षा ईश्वरका कर्तव्य है और ईश्वर कर्तृक कार्यके सम्पादनमें उसकी सहायता करता है। दूसरा कारण यह भी है कि जिस प्रकार किसी राजसभाका सदस्य निर्वाचित होनेके लिए प्रार्थी को समतियोंकी सख्या बढ़ाने के लिए धनदानादि नाना प्रकारसे जनताको प्रसन्न करना पड़ता है। इसी प्रकार परमेश्वरकी सभाके सभ्य बननेके लिए हमको भी अधिक सम्मतियाँ प्राप्त करनेके लिए जनता की यथाशक्ति सेवा करनी चाहिए। तीसरे हेतु यह है कि जीवसमष्टिके अभिमानीका नाम परमेश्वर है, जब हम समष्टि जनताकी सेवा करेंगे तो अवश्य उसके अभिमानी ईश्वर हमारे ऊपर प्रसन्न होंगे, जैसे कि पुत्रकी रक्षा करनेसे उसमें पुत्रत्वाभिमान रखनेवाला पिता प्रसन्न होता है। इसलिए भगवत्कृपाकी इच्छा रखनेवाले पुरुषों को परोपकारमें तत्पर रहना चाहिए ।।५४।।

परन्तु जो पुरुष किन्हीं कारणोंसे इस साधनका अनुष्ठान न कर सकें उनके प्रति आगेके दो श्लोकोंसे साधनान्तरका उपदेश करते हैं:—

भीतश्चेदसि जनतासमागमेभ्यो
रागादेर्लघुमनसि प्रवर्तकेभ्यः ।
त्यक्त्वाऽरं जनसमितिं तदा विविक्तं
सेवस्वामलधिषणो जहत्समस्तम् ।।५५।।

चित्तमें रागद्वेषादिके उत्पन्न करने वाले सङ्गसे यदि तुम डरते हो तो जनसमाज तथा वित्तपुत्रादिके संगका त्याग करके शीघ्र ही निर्मलचित्त हो एकान्त प्रदेशका सेवन करो ।।५५।।

एकान्तप्रदेशमें रहनेसे ही कोई सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि सदा एकान्तमें ही रहने वाले सिंहव्याघ्रादि अन्य जीवोंमें कोई सिद्धि नहीं देखी जाती। किन्तु एकान्तमें रहकर साधन करना ही सिद्धिका जनक है, यह बात अग्रिम श्लोकमें कही जाती है:—

अद्वैतामृतमनिशं श्रुतिप्रपाभ्यो
निःशङ्कं प्रणिपिबतां प्रमोदवन्ति ।
शान्तानामथ सततं समाधिभाजां
धन्यानामिह विजने वियन्त्यहानि ।।५६।।

वे पुरुष धन्य हैं जो प्रतिदिन निःशङ्कमनसे शान्तिपूर्वक श्रुतिरूप प्याऊसे अद्वैतामृतका पान करते हुए ध्यानसमाधिके साधनद्वारा एकान्तदेशमें आनन्दपूर्वक अपना काल व्यतीत करते हैं।

भाव यह है कि जिस प्रकार व्यायाम करनेसे अवश्य शक्तिकी वृद्धि होती है, परन्तु वही व्यायाम अत्यन्त दुर्बल पुरुषको मृत्युकी ओर ले जाता है। इसी प्रकार परोपकार भी उन्हीं पुरुषोंको उपयोगी हो सकता है जिनके चित्तमें सङ्गजन्य दोषोंका सचार

न हो सके, परन्तु जिन अधिकारियोंके हृदय अतीव कोमल होनेके कारण संगदोषसे दूषित हो सकते हैं उनके लिए परोपकार लाभप्रद नहीं होगा। इसलिए ऐसे पुरुषोंको एकान्त प्रदेशमें ही रहकर साधनानुष्ठान करना उचित है ॥५६॥

जब दीर्घकाल तक एकान्तमें रहकर भगवत्स्मरणपूर्वक श्रवणमननादिका यथावत् अनुष्ठान किया जायगा तब अवश्य आत्मसाक्षात्कार होगा और फिर पुरुषको परमस्वातन्त्र्यका लाभ होगा तथा किसी भी साधनानुष्ठानके लिए बाधित नहीं होना पड़ेगा—यह कहनेके लिए अगले श्लोककी प्रवृत्ति है:—

निर्भीको मतिदृढताबलाद्यदि त्वं
स्वच्छन्दं तदु विहर स्वरूपभूतम् ।
निःशेषं परिकलयन्निहाधिरोपा-
दुद्भातं तव किमिदं प्रदूषयेत ॥५७॥

यदि तुम चित्त दृढ़ होनेके कारण जनसंगसे निर्भय हो तो सम्पूर्ण विश्वको अपना ही स्वरूप देखते हुए स्वतन्त्रतापूर्वक यथेच्छ विचरो। अज्ञानजन्य भ्रमप्रतीतिसे भासनेवाला यह मिथ्या जगत् तुम्हारा क्या बिगाड़ सकता है ?

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार नख और दाढ़ोंसे रहित बूढ़े सिंहोंसे भरे हुए वनमें विचरनेसे पुरुष तभीतक भयभीत रहता है जबतक कि उसे इस रहस्यका पूर्ण परिचय न हो, परन्तु जब वह इस भेदको जान लेता है तब उसे अरण्यभ्रमणमें

स्वातन्त्र्य हो जाता है। इसी प्रकार आत्मबोधसे पहले पुरुष जगत्को भयानक समझता हुआ उसमें स्वतन्त्रतापूर्वक विहार नहीं कर सकता, परन्तु आत्मसाक्षात्कारके अनन्तर जब उसे जगत्का रहस्य विदित हो जाता है तब वह परम स्वातन्त्र्य लाभ करके यथेच्छ संसारविहारसे होने वाले सुखका अनुभव कर प्रारब्धक्षयके पश्चात् कैवल्यपदको प्राप्त करता है। इसलिए ऐसे परमस्वातन्त्र्यजनक आत्मबोधके लिए प्रत्येक पुरुष को यत्नशील होना चाहिए ॥५७॥

यद्यपि 'तरति शोकमात्मवित्' 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादि श्रुतिप्रामाण्यसे आत्मज्ञान निश्चितरूपसे सम्पूर्ण दुःखोंकी निवृत्ति और परमानन्दकी अभिव्यक्ति करने वाला होता है, तथापि मुमुक्षुओंकी श्रद्धा बढ़ानेके लिए यह कहनेके उद्देश्यसे किये दोनों बातें विद्वान्के अनुभवसे भी सिद्ध हैं, आगेके ग्रन्थका आरम्भ किया जाता है। इसमें पहले श्लोकसे सारे अनर्थोंके प्रधान कारण रागके अभावका वर्णन किया जाता है:—

रागःक्वावस्थितःस्यान्मयि विमलतमश्रीनभःसन्निभेऽस्मिन्
या त्वेषा रागरेखा स्फुरित परितता शक्रकोदण्डतुल्या।
साऽभ्रामे स्वान्तखण्डे विलसतु सुतरां मेघसंसर्गशून्ये
कोद्रिक्तिः कापरिक्तिर्गगन इव मयि स्वान्ततोऽत्यन्तदूरे ॥१

आकाशके समान अत्यन्त निर्मल और सर्वदा असंग मुझमें राग किस प्रकार रह सकता है जो बिजलीकी चमकके समान

रागकी रेखा दिखाई पड़ती है वह मेघरूप अन्तःकरणमें ही स्थित है सो उसका धर्म होनेसे सदा उसीमें रहे, परन्तु मेघके सम्पर्कसे सर्वथा शून्य आकाशके समान अन्तःकरणसे सर्वथा असम्बद्ध मुझमें किसी प्रकारका उत्कर्षापकर्ष नहीं हो सकता।

भाव यह है कि जिस प्रकार मेघमण्डलमें चमकने वाली बिजलीकी रेखा अविवेकियोंको आकाशमें ही स्थित जान पड़ती है, क्योंकि उनको आकाशकी असंगताका ज्ञान नहीं होता, किन्तु वही विवेकियोंको दृष्टिसे मेघमें स्थित है उसी प्रकार 'कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा·········इत्येतत्सर्वं मन एव' इस श्रुतिके अनुसार अन्तःकरणमें रहने वाले भी रागादि अज्ञानियोंको आत्मामें जान पड़ते हैं और वे ही 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' 'अनण्वह्रस्वमदीर्घम्' इत्यादि श्रुतियोंद्वारा निर्गुण और असंग आत्माके स्वरूपका निश्चय होने पर ज्ञानीको अन्तःकरणमें स्थित दिखाई देते हैं। इसलिए ज्ञानी अपनेमें रागादिका अभाव अनुभव कर सकता है ॥५८॥

यहाँ यह शंका हो सकती है कि यदि ज्ञानीमें रागादि नहीं हैं तो देह और इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति भी नहीं होनी चाहिए, क्योंकि 'यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्' इत्यादि स्मृतिके अनुसार उनकी प्रवृत्ति भी काम या रागके कारण ही होती है, परन्तु उनके भी देहादिकोंकी चेष्टा तो प्रत्यक्ष देखी जाती है इसलिए उसके प्रयोजक रागका अस्तित्व भी ज्ञानीमें अवश्य मानना चाहिए। इस शङ्काकी निवृत्ति करनेके लिए आगामी श्लोक है:—

चेष्टन्ते चेदिमानि प्रतिनियतगुणं चक्षुरादीनि नित्यं
चेष्टन्तां काममस्मिन् मयि सकलजगच्चेष्टमानत्वहेतौ ।
चेष्टेरन्नो कुतोऽप्यस्यचलइव चलत्यस्म्ययस्कान्त एव
भिन्नश्चात्यन्तमेभ्यस्तदिह मयि कथं पुण्यपापावलेहः ।५६।

यदि देह तथा चक्षु आदि इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंकी ओर प्रवृत्त होती हैं तो हों। सम्पूर्ण जगत्‌की चेष्टाके हेतुभूत आत्मचैतन्यकी सन्निधिमें जड़वर्गकी चेष्टा होना उपपन्न ही है। परन्तु उनकी प्रवृत्तिसे आत्मामें रागद्वेषादि तथा उनके कारण होने वाले पुण्यपापकी प्राप्तिकी आशंका नहीं की जा सकती, क्योंकि वह लोहके चलने पर भी अचल रहनेवाले चुम्बकके समान स्वयं सब प्रकारके विकारोंसे रहित है और बाह्य देहादिकों से अत्यन्त विलक्षण अर्थात् प्रत्यक् है।

भाव यह है कि जिस प्रकार चुम्बककी सन्निधि होनेपर लोहा निश्चल नहीं रह सकता, उसकी चेष्टा अनिवार्य हो जाती है, फिर भी चुम्बकमें उसकी प्रवृत्तिके प्रयोजक रागादिका आरोप नहीं किया जा सकता उसी प्रकार आत्मचैतन्यकी सन्निधिमें देहादिकों की चेष्टा होना आवश्यक तथा युक्त ही है फिर भी उनकी चेष्टाके प्रयोजक रागादिका आत्मामें अङ्गीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसा माननेपर आत्मामें प्रत्यक्त्वकी हानि होकर पराक्त्वदृश्यत्वादि अनिष्ट धर्मोंका प्रसङ्ग होगा। अतः ज्ञानीमें रागका अभाव मानना उपपन्न ही है ॥५६॥

पहले जो चुम्बकके दृष्टान्तसे आत्मचैतन्यमें सब विकारोंके अभावका प्रतिपादन किया है यह उपपन्न नहीं है, क्योंकि चुम्बक तो एक पत्थर ही है इसलिए उसमें रागादि का न होना उपपन्न ही है। परन्तु आत्मामें इस दृष्टान्तसे रागादिका अभाव मानना सङ्गत नहीं है। दूसरे 'यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्' इस विद्वानोंकी उक्तिको अविद्वद्विषयक बताकर इसका अकारण ही संकोच करना भी न्यायसङ्गत नहीं है, इसलिए ज्ञानीमें भी राग होना आवश्यक है, इसका समाधान अग्रिम श्लोकसे कहते हैं:—

योऽयं रागोऽस्मदीयो न खलु स मुहिराणामिवानात्मदृष्ट्या
किन्त्वात्मैवेदमम्भोगतमिह सलिलं फेनमुख्यं यथैवम् ।
आत्मन्यध्यस्तभावादिति निपुणधिया पश्यतो रञ्जना मे
स्वात्मप्रेमाणमेनं यदि तु जडधियो रागमाहुस्ततः
किम् ॥६०॥

ज्ञानीका राग अज्ञानियोंके समान अनात्मदृष्टिमूलक नहीं होता, क्योंकि उसकी दृष्टिमें सम्पूर्ण जगत् आत्मा कल्पित होनेके कारण आत्मस्वरूप ही है, जिस प्रकार कि तरंगफेनादि जलमें कल्पित होनेके कारण जलसे अभिन्न हैं इस तरह सबको आत्म-दृष्टिसे देखनेवाले ज्ञानीको किसमें राग हो सकता है और जो प्रवृत्तिका प्रयोजक थोड़ा-सा रागाभास दिखायी देता है, वह भी राग नहीं किन्तु आत्मप्रेम ही है, यदि उसीको अविवेकी पुरुष राग करते हैं तो कहें, इससे ज्ञानी रागी नहीं बन सकता।

भाव यह है कि जिस प्रकार अपराध करनेपर पिता पुत्रको दण्ड देता है किन्तु इससे पुत्रके प्रति पितामें द्वेषकी कल्पना नहीं की जा सकती और यदि दूध पीनेवाला बालक दीपकलिकाको पकड़नेके लिए हाथ बढ़ाता है तो इसमें भी राग नहीं माना जा सकता । इसी प्रकार ज्ञानीमें भी प्रवृत्ति-निवृत्तिका निमित्तभूत राग अथवा द्वेष नहीं हो सकता । परन्तु जैसे धोये हुए लशुनके पात्रमें भी उसकी गन्ध बनी रहती है, वैसे ही ज्ञानीके अन्तः-करणमें भी रागद्वेषादिकी एक वासना बनी रहती है, जिसे रागाभास कहते हैं, क्योंकि वह वस्तुतः राग नहीं है परन्तु रागके समान प्रतीत होती है। उसी रागाभासको लेकर विद्वान्की प्रवृत्ति बन सकती है और प्रवृत्तिमात्रमें कामप्रयुक्तत्वप्रतिपादक वाक्य भी चरितार्थ हो सकता है ॥६०॥

ज्ञानीमें भी रागद्वेषकी वासना रहती है—ऐसा सुनकर आशङ्का हो सकती है कि फिर तो ज्ञानीमें भी कालान्तर में राग-द्वेष उत्पन्न होकर जन्म-मरणादि सब प्रकारका अनर्थ उत्पन्न करदेंगे, क्योंकि बालकमें रागद्वेषके संस्कार विद्यमान रहते हैं इसीसे युवावस्थामें उसको सारे दोष घेर लेते हैं, अतः ब्रह्मात्मै-क्यबोध भी आत्यन्तिक पुरुषार्थका साधन नहीं है। इसका समाधान अगले पद्यसे करते हैं:—

नाहं मूर्खो न विद्वान् न च जरठतनुर्नैव बालो युवा वा,
नैव स्त्री नो पुमान्वा सततमथ मयि क्लीबभावोऽपि नास्ति

किन्त्वेषामेक आत्मा विगतगुणगणो दोषलेशैश्चशून्यो नित्यानन्दश्चिदात्मा तदिह मयि कुतस्त्यागरागौ भवेताम् ॥६१॥

मैं न तो मूर्ख हूँ और न विद्वान् ही हूँ, क्योंकि मूर्खत्व और विद्वत्त्व दोनों बुद्धिके धर्म हैं और मैं बुद्धिसे सर्वथा भिन्न हूँ। वृद्ध, बाल, युवा भी मैं नहीं हूँ, क्योंकि वृद्धावस्था, शशव और यौवन देहके धर्म हैं और मेरा देहसे कोई सम्पर्क नहीं है। मैं स्त्री, पुरुष या नपुंसक भी नहीं हूँ, क्योंकि ये इन्द्रियोंके धर्म हैं और मैं इन्द्रियोंसे पृथक् हूँ. तथा देह, इन्द्रिय और बुद्धि इन सबका प्रेरक एवं सब प्रकारके गुणदोषसे शून्य सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ। तब मुझमें रागद्वेषादि कैसे रह सकते हैं? तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार तपे हुए लोहपिण्डमें जो दाहकता है उसमें लोहे और अग्निका तादात्म्याध्यास ही कारण है, यदि लोहपिण्डसे अग्निको पृथक् कर दिया जाय तो फिर उसको दाहक नहीं कह सकेंगे, इसी प्रकार आत्मामें भी रागद्वेषादि और उनके कारण होनेवाले सम्पूर्ण अनर्थोंकी प्राप्तिका कारण देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धिके साथ आत्माका तादात्म्याध्यास ही है। आत्मज्ञानाग्निसे जब अध्यास और उसका कार्य भुन जाता है तब वह भस्मीभूत होकर विद्यमान रहता हुआ भी अनर्थ पैदा करनेवाला नहीं हो सकता और स्वरूपसे वर्तमान रहनेके कारण देहस्थितिके लिए आवश्यक प्रवृत्तिको करनेवाला भी हो सकता है, जैसे भुना हुआ चना अंकुरकी उत्पत्तिमें असमर्थ होनेपर भी खानेके काममें तो आ ही

सकता है। शिशुका दृष्टान्त भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसमें मूल कारण अध्यासको निवृत्ति नहीं होती। इसलिए भस्मसे ढकी हुई अग्निके समान कालान्तरमें उसमें सभी दोष उत्पन्न हो सकते हैं। इसके विपरीत ज्ञानीमें सारे अनर्थों का प्रधान कारण अध्यास नष्ट हो जाता है इसलिए उसमें कालान्तरमें भी कोई दोष उत्पन्न नहीं होता, वह सर्वथा परमानन्दमें ही मग्न रहता है। अतः ज्ञान परमार्थका साधन है, इसमें अणुमात्र भी दोष नहीं दिया जा सकता ॥६१॥

पीछे यह बात कही गयी है कि आत्मा आकाशके समान असङ्ग है, इसलिए वह आसक्तिके कारण होनेवाला राग-द्वेषका अधिकरण नहीं बन सकता अब अगले श्लोकसे यह कहा जाता है कि आप्तकाम होनेके कारण भी उसमें इच्छादि नहीं हो सकते:—

मय्यानन्दैकसिन्धौ कथमवतरतु प्रेप्सयाऽऽनन्दबिन्दु-
र्बिन्दुः को रत्नपुञ्जान् भवति मतियुतः काममिच्छुर्वराटम्।
नाटन्तीह त्विमास्ता जलधिमधिजलं नापगा भूरिपूराः
शूराः के तत्र वक्तुं जलनिधिमभिलाषेण युक्तं तथाऽत्र।६२

केवल एक अनन्त आनन्दके समुद्र मुझमें वैषयिक आनन्दकी बूंदोंको पानेकी इच्छा किस प्रकार हो सकती है। कौन बुद्धिमान् महान् रत्नराशिको पाकर फिर कौड़ीके लिए लालायित होगा ? फिर भी यदि प्रारब्ध के करण मेरेमें विषयप्राप्ति प्रतीत हो रही है तो इतने ही से मुझमें काम की कल्पना नहीं की जा सकती,

क्योंकि यद्यपि समुद्रमें रात-दिन अनन्तजलपूर्ण नदियोंका प्रवेश हो रहा है फिर भी उसे नदीप्रवेशका अभिलाषी कहनेमें कौन समर्थ है ?

तात्पर्य यह है कि इच्छा सर्वदा अप्राप्त आनन्दके लिए ही हुआ करती है जो पदार्थ प्राप्त न होने पर भी आनन्दरूप नहीं होता उसकी भी इच्छा नहीं होती तथा आनन्दरूप होने पर भी यदि प्राप्त होता है तो भी वह इच्छाका विषय नहीं होता। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि इच्छा अप्राप्त आनन्दके लिए ही होती है आत्मासे भिन्न सारे पदार्थ आगे कहे जानेवाली युक्ति और श्रुतिके अनुसार दुःखरूप हैं अतः आत्मा ही परमानन्द-स्वरूप है। वह आत्मा, आत्मा होनेके कारण ही सदाप्राप्त है, क्योंकि अनात्म वस्तुएँ ही अप्राप्त हो सकती हैं, पाने वालेका स्वरूप होनेके कारण आत्मा कभी अप्राप्त नहीं हो सकता। इस लिए ज्ञान द्वारा नित्य-निरतिशयसुखस्वरूप आत्मा की प्राप्ति होनेपर विद्वान्में कोई इच्छा उत्पन्न नहीं हो सकती ॥६२॥

आत्मा यदि परमानन्दस्वरूप हो तो उसका ज्ञान होनेके पश्चात् वेत्तामें सम्पूर्ण कामनाओंका अभाव किसी प्रकार सम्भव हो भी सकता है परन्तु यदि उसकी आनन्दरूपता ही सिद्ध न हो सके तो परमानन्दरूपता तो असम्भव माननी ही होगी। प्राणिमात्रकी विषयोन्मुख प्रवृत्तिको देखकर हम कहते हैं कि आत्मा सुखस्वरूप नहीं है। यदि वस्तुतः वह सुखरूप है तो सदा प्राप्त होनेके कारण उसका स्वरूपभूत सुख भी प्राप्त ही है,

अतः प्राणियोंकी विषयाभिमुखी प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए थी। परन्तु उनकी ऐसी प्रवृत्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है। इसलिए आत्मा सुखरूप नहीं है। अतः आत्मज्ञानसे विद्वान्‌की सारी अभिलाषाओं का विलय हो जाना शशशृङ्गके समान असम्भव है। इस आशङ्काकी निवृत्तिके लिए आगेका श्लोक है:—

प्रेयानात्मा समस्मादिति विदितमिदं सर्वलोके च वेदे
सर्वं चाप्येतदात्मा गमितमिदमपि श्रौतवाक्यैः सहस्रैः।
तस्मात्प्रेमास्तु यत्र क्वचिदपि मम स ब्रह्मरूपो न रागो
नागस्तस्मान्मदीये निजविमलतनौ प्रेमणि प्रापणीयम्।६३।

समस्त अनात्म पदार्थोंकी अपेक्षा आत्मा ही परमप्रिय है। यह सब वेदोंमें और लोकमें भी प्रसिद्ध है। और यह सम्पूर्ण दृश्यमान विश्व आत्मस्वरूप है यह भी सैकड़ों सहस्रों वेदवाक्यों से निर्णय हो चुका है। इसलिए जिस किसी भी वस्तुमें मेरा प्रेम है वह ब्रह्मस्वरूप ही है, राग नहीं है। ऐसे अत्यन्त निर्मल और स्वस्वरूपभूत प्रेममें किसी भी दोषकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

भाव यह है कि प्रेमका विषय आनन्द ही होता है, जिस वस्तुको हम दुःखरूप समझते हैं उसमें कदापि हमारा प्रेम नहीं हो सकता। आत्मा सबके प्रेमका आश्रय है यह बात बालकसे लेकर बूढ़े तक सभीके अनुभवसे सिद्ध है क्योंकि सभी आत्माका अस्तित्व चाहते हैं, कोई नहीं चाहता कि 'मैं नष्ट हो जाऊँ' परन्तु स्वभावतः सबकी ऐसी ही इच्छा देखी जाती है कि मैं सदैव

जीवित रहूँ। सब लोग अपने प्रिय पदार्थका ही अस्तित्व चाहा करते हैं, अप्रियका अस्तित्व किसी भी प्राणीको अभीष्ट नहीं होता, इसलिए सब प्राणियोंको अपना अस्तित्व अभिलषित होनेके कारण आत्मा सर्वप्रिय है और इसीसे वह आनन्दरूप भी सिद्ध होता है। पुत्र, स्त्री, धन आदि जितने भी प्रिय पदार्थ हैं वे सब आत्मानुकूल होनेके कारण ही प्रिय हैं। अपनेसे प्रतिकूल होने पर पुत्रादि भी प्रत्येक प्राणीके लिए द्वेष्य होकर हेय हो जाते हैं। आत्मामें प्रेम स्वतःसिद्ध है किसी अन्य पदार्थकी अनुकूलताके कारण नहीं है। अतः वह परमप्रेमका विषय होनेके कारण ही परमानन्दस्वरूप है इसलिए उसका ज्ञान होने पर इच्छा, काम, रागादि सभीका अभाव हो जाना सर्वथा न्याय्य है ॥६३।

साधक सहज ही में समझ सकें—इस उद्देश्यसे अगले श्लोक में समस्त साधनोंका क्रम निरूपण किया जाता है:—

जातं चेतो मदीयं वियदमलमुदैत् पूर्ण इन्दुर्विचार-
स्तत्त्वालोकः समन्ताद् व्यसरदरमथो शान्तिरातन्यतेयम्।
पापस्तापो विलीनोऽमृतमिव परितः स्यन्दतेऽमन्दमेतद्
धन्या कल्याणरात्रिः परमजनिवान् वासरोऽसौ प्रपञ्चः ॥

मेरा चित्तरूपी आकाश निर्मल होगया, विचाररूप पूर्णचन्द्रका उदय हुआ और चारों ओर तत्त्वज्ञानरूप प्रकाश फैल गया। उसके पश्चात् दुःखप्रद तापका अभाव होकर परमशान्तिका लाभ हुआ और चारों ओर अनन्त अमृतका प्रवाह बहने लगा। अब

प्रपञ्चरूप प्रचण्ड दिनका अवसान होनेसे सब ओर अत्यन्त तीव्र पुण्योंसे प्राप्त होने वाली कल्याणरूप रात्रि विराजमान है ।

तात्पर्य यह है कि जिसको कि शास्त्रमें परमपद नामसे कहा है और जिसे पानेकी प्राणिमात्रको इच्छा है उस तापत्रितयके आत्यन्तिक विलय तथा नित्यनिरतिशयानन्द के आविर्भाव का प्रधान साधन यद्यपि श्रवण, मनन, निदिध्यासनका बार-बार अभ्यास करना ही है, तथापि अन्तरायोंके रहते हुए साधन फलजनक नहीं होता, जिस प्रकार कि दाहका कारण होने पर भी अग्नि मणिमन्त्र और औषधादि प्रतिबन्धक रहनेके समय दाह नहीं कर सकता। इसी प्रकार तबतक साधकके अन्तःकरणमें रागद्वेषोत्पादक पापरूप मल तथा विषयप्रवणतारूप विक्षेप वर्तमान है तबतक प्रथम तो श्रवणादि होना ही असम्भव है और यदि किसी प्रकार हो भी गया तो उससे कोई फल होना सम्भव नहीं है । अतः प्रत्येक साधकको मलविक्षेप रूप अन्तरायकी निवृत्तिके लिए सबसे पहले अथवा श्रवणादि साधनोंके साथ परोपकार एवं ईश्वराराधनादि पुण्यकर्मोंका आलम्बन अवश्य रखना चाहिए। ऐसा करनेसे ही उसके श्रवणादि तत्त्वबोधको पैदा करनेमें समर्थ हो सकेंगे। ऐसा होनेपर फिर साधकको परमपद प्राप्तिमें कोई विलम्ब नहीं रहेगा ॥६४।

शास्त्रीय साधनोंके अनुष्ठानसे परमकृतकृत्यताकी प्राप्ति अवश्य होती है यह दिखानेके लिए अगले श्लोकसे अनर्थनिवृत्ति और परमानन्दानुभवरूप धन्यताका उल्लेख करते हैं:—

लीनः सोऽयं प्रपञ्चो यदधि मम पुराऽभून्महत्कौतुकित्वं
शान्तास्तास्ताः समीहा अनवरतमहोयाभिरुच्चाटितोऽहम्।
उद्वेगाः सर्व एते विलयमुपगताः शीतमासीन्मनो मे
धन्योऽस्म्येकं समन्तात्स्फुरति मम मह-
ज्ज्योतिरानन्दभूतम् ॥६५॥

जिस प्रपञ्चके विषयमें मैं सोचता था कि 'यह सत्य है या मिथ्या' यदि सत्य है तो इसकी निवृत्तिके लिए चेष्टा करना व्यर्थ है, क्योंकि सत्य वस्तुकी कभी निवृत्ति नहीं हो सकती और यदि मिथ्या है तो ज्ञानके अनन्तर प्रतीत नहीं होना चाहिए क्योंकि रज्जुका साक्षात्कार हो जानेपर फिर सर्प प्रतीत नहीं होता। यदि कहें कि निरुपाधिक भ्रममें ही ज्ञानके पश्चात् अप्रतीतिका नियम है सोपाधिक भ्रमका विषय होनेके कारण प्रमाके पश्चात् भी प्रपञ्चकी प्रतीति हो सकती है, तो उपाधिके रहते हुए तो ब्रह्मसाक्षात्कार होना ही असम्भव है, क्योंकि जपाकुसुमके रहते हुए 'श्वेतः स्फटिकः' ऐसी प्रत्यक्षप्रमा कभी नहीं देखी जाती और उपाधिकी निवृत्ति ब्रह्मसाक्षात्कारके बिना नहीं होगी, इसलिए परस्पराश्रयत्वरूप दोषयुक्त होनेके कारण ब्रह्मज्ञान होना सर्वथा असम्भव है, वह मेरा महान् आश्चर्य अब लीन हो गया, तथा जिन इच्छाओंकी पूर्तिके लिए मैं सर्वथा अस्थिर तथा उद्विग्न रहा करता था वे इच्छाएँ और उद्वेग भी

सबके सब एक साथ विलीन हो गये और मेरा चित्त परम शान्त हो गया। अब चारों ओर मुझे स्वयंप्रकाश आनन्द ही प्रतीत हो रहा है, इसलिए कृतकृत्य तथा ज्ञातज्ञेय होनेके कारण मैं परम धन्य हूँ।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार मदिरोन्मत्त पुरुष नशेमें मतवाला रहनेके समय सहस्रों युक्तियोंसे भी मदिराके स्वरूपको नहीं समझ सकता और नशा उतरने पर बिना किसी तर्कके ही उसे स्वयं ही उसके स्वरूपका निश्चय हो जाता है, उसी प्रकार आत्म साक्षात्कार होनेसे पहले केवल युक्तिद्वारा माया और उसके कार्य का स्वरूप निश्चित नहीं हो सकता परन्तु आत्मज्ञान हो जाने पर इस संसारका स्वरूप करामलकवत् भासने लगता है। इसलिए श्रुति कहती है कि 'छिद्यन्ते सर्वसंशयास्तस्मिन् दृष्टे परावरे' अर्थात् परमात्माका साक्षात्कार हो जाने पर सारे संशयोंका अभाव हो जाता है। अतः प्रत्येक प्राणीको कुतर्कका तिरस्कार कर आत्मज्ञानके साधनोंके अनुष्ठानमें तत्पर हो जाना चाहिए ॥६५॥

पूर्व ग्रन्थमें यह बात कही गयी है कि अधिक आनन्द होने पर अल्प आनन्दमें राग नहीं हो सकता। अगले श्लोकमें यह कहते हैं कि विषय न रहने पर उसमें राग भी नहीं रहता:—

कामः क्व स्यान्मदीयो जगदखिलमिदं ज्ञातमत्यन्त तुच्छं
कामाभावे तु कोपः कथमिव विभवेत्कारणं सोऽस्य यस्मात्।

लोभः सत्यत्वमूलो जगति च वितथे सत्यताभ्रान्तिरूपा
मोहो भ्रान्तेर्निदानं सकलमिदमगाद्वीतशोकः शिवोऽहम्।६६।

जगत्को अत्यन्त असार समझ लेनेपर मुझे किस विषयमें काम हो सकता है ? क्योंकि आकाशकुसुमरूप अत्यन्त तुच्छ पदार्थोंमें किसीकी इच्छा नहीं देखी जाती। कामका अभाव हो जानेपर क्रोध भी नहीं हो सकता क्योंकि अपनी कामनाके विषय को अपने अधीन कर लेने वालेके प्रति क्रोध होता है; काम्य वस्तुके न रहने पर क्रोधका भी कोई विषय नहीं रहता। लोभका कारण पदार्थोंमें सत्यता बुद्धि करना है, वह असत् जगत्में सत्यता पर गम्भीर विचार करनेसे भ्रमरूप सिद्ध होती है और भ्रमका हेतु अधिष्ठानभूत आत्माका अज्ञान है। जब आत्मप्रभासे मोहकी निवृत्ति हो गयी तो उसके कारण होनेवाली भ्रान्ति भी जाती रही और भ्रान्तिके दूर होने पर उसका कार्य लोभ भी कभी नहीं ठहर सकता। अतः मैं सकलदोषरहित होकर शिवस्वरूपसे ही स्थित हूँ।

भाव यह है कि जिस प्रकार इन्धनका अभाव होनेपर अग्नि स्वयं शान्त हो जाता है उसी प्रकार आत्मबोधके अनन्तर जगत्का अभाव हो जानेपर निर्विषय कामक्रोधादि स्वयं ही जड़कटे हुए वृक्षके समान नष्ट हो जाते हैं। अतः सारे अनर्थोंके निवर्त्तक आत्मबोधके लिए प्रत्येक पुरुषको प्रयत्न करना चाहिए ॥६६॥

काम-क्रोधकी निवृत्ति होनेपर स्वयं ही आत्माका भान हो जाता है इसके लिए साधकको अपेक्षा नहीं करनी पड़ती यह बात आगेके दो पद्योंसे कही जायगी:—

शान्ते चेतस्यकस्मादुदगमदमितं ज्योतिरानन्दपूर्णं
तूर्णं मोहान्धकारो व्यगलदथ सुधौघाः समन्तात्स्रवन्ति।
नष्टाःशोकादयोऽमो विकलितमनसो नान्यदालोकयामः
सत्यं चाद्यन्तहीनं प्रविततमतुलं केवलं ब्रह्म भाति ॥६७॥

कामक्रोधादि विक्षेपके हेतुओंका अभाव होनेपर जब चित्त शान्त हुआ तो उसमें आनन्दरूप ज्योतिका स्वयं ही आविर्भाव हो गया जिसके कारण अज्ञानरूप अन्धकारकी निवृत्ति हो जानेसे चारों ओर आनन्दामृतका प्रवाह बहने लगा है तथा शोकमोहादि चारोंका दल व्याकुल होकर नष्ट हो गया है। अब केवल सत्य, आद्यन्तरहित, सर्वव्यापी अद्वितीय ब्रह्म ही सर्वत्र प्रतीत हो रहा, उससे भिन्न दूसरी वस्तुका तो कहीं नाम भी शेष नहीं है ॥६७॥

ब्रह्मैवोदध्वं तथाधः प्रसृतमथ पुरस्ताच्च पश्चादपीदं
ब्रह्मैवोदक्तथाऽवाग्दिशि विदिशि समं व्याप्तमेकं सदेतत्।
नित्यानन्दोरुतेजोभृतविविधवपुर्भ्राजते मायया‌ऽदो
वतोद्धूतं यथाऽम्भो बहुविधवपुषा नान्यदस्तीह तत्त्वम्।६८

सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही ऊपर-नीचे तथा इधर-उधर सारी दिशा-विदिशाओंमें एकरस होकर पूर्ण है। वही ब्रह्म परमार्थदृष्टिसे एक होने पर भी मायाके कारण नाना रूपोंमें प्रतीत होता है। जिस प्रकार एक ही जल वायुके कारण तरङ्गफेन-बुद्बुदादि अनेकों आकारोंमें भासने लगता है।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार मलिन जलमें पड़ी हुई बहुत बड़ी शिला भी प्रतीत नहीं होती किन्तु वही जलके निर्मल होने पर स्वयं दीखने लग जाती है उसी प्रकार सबसे बड़ा और स्वयं-प्रकाश ब्रह्म अन्तःकरणमें रहते हुए भी उसके मलिन होनेके कारण प्रतीत नहीं होता। रागद्वेषादि मलोंकी निवृत्ति द्वारा चित्त निर्मल हो जाने पर उसकी प्रतीति स्वयं होने लगेगी। यह मल मायाकल्पित है। इसलिए इसका उच्छेद होना सम्भव है ही उसमें सत्यत्वबुद्धि केवल अविवेकके कारण है, अतः प्रत्येक साधकको पहले अन्तःकरणको शुद्ध करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए ॥६८॥

पूर्वोक्त आत्माकी असङ्गताका उपपादन करनेके लिए अग्रिम दो श्लोकोंसे प्रतीयमान जगत्के मिथ्यात्वका वर्णन करते हैं:—

गङ्गौघाधो निमग्ना दृढपृथुलशिला क्लिद्यते नो यथान्त-
र्नैषद्वाप्युच्चलेत्सा सति वहति महास्रोतसि स्वोपरिष्टात्।
तद्वत्संसारपूरे सति महति सदा स्यन्दमानेऽतिघोरे
निर्दुःखा निश्चलाङ्गा श्रुतिसमधिगता पीवरी
चिच्छिलाऽहम् ॥६९॥

जिस प्रकार गङ्गाके प्रवाहमें डूबी हुयी विशाल शिला अपने ऊपर सर्वदा गङ्गाका महाप्रवाह बहते रहनेपर भी नहीं भीगती और न अपने स्थानसे विचलित ही होती है उसी प्रकार अत्यन्त घोर और महान् संसारनदका प्रवाह निरन्तर अपने ऊपर बहते रहनेपर भी यह श्रुतिसिद्ध आत्मनामकी भारी शिला भी दुःख-हीन और निश्चलरूपमें ही रहती है । ६९ ॥

इसी बातको दूसरी तरह कहते हैं:—

धूयन्तां रागवातैरनिशमिह मनश्चीनवासोध्वजान्ताः
शान्ताःसन्तोऽथवान्ते जहतु कथमपि स्वीयमालौल्यमेते ।
के ते गाढं निखातं सकलजडभुवि प्रत्यगात्मानमुच्चैः ।
स्वस्थं कान्ताभमान्दोलयितुमपि मनाग् वाज्र-
मुद्दण्डदण्डम् ॥७०॥

रागरूप वायुके वेगसे मनरूप ध्वजाके अन्तिम भाग चाहे रातदिन हिलते रहें अथवा शान्त होकर अन्तमें अपनी चपलता को छोड़ दें, तथापि उनके कारण जड़प्रपञ्चरूप भूमिमें दृढ़तासे गड़ा हुआ अत्यन्त ऊँचा और कूटस्थ आत्मारूप वज्रदण्ड तनिक भी इधर-उधर नहीं हो सकता ।

भाव यह है कि जिस प्रकार मरुमरीचिकाके कल्पित जलसे मरुस्थलमें कीचड़ नहीं हो सकता तथा भ्रमवश अग्नि मानी हुई गुञ्जाओंकी ढेरी दाह या प्रकाश नहीं कर सकती उसी प्रकार अनादि और अनिर्वचनीय मायाआरोपित कर्तृत्वभोक्तृत्वादि प्रपञ्च आत्मामें अणुमात्र भी दोष पैदा नहीं कर सकता ॥७०॥

यदि कल्पित द्वैतसे आत्मामें कोई विकार नहीं हो सकता तो ज्ञानी होकर भी बहुतसे लोग दुःखी क्यों देखे जाते हैं, इसका उत्तर अग्रिम पद्यसे देते हैं:—

क्षणमहह मनो मे नन्दति स्वं समस्तं
परिकलयदनन्तं ब्रह्मशान्तं नितान्तम् ।
क्षणमथ तु दुराशावायुनोद्धूयमानं
विशदहह विभेदं खेदमङ्गीकरोति ॥७१॥

कभी तो मेरा मन अपनेको अतिशान्त और अनन्त ब्रह्म-स्वरूप अनुभव करता हुआ अत्यन्त आनन्दित होता है और कभी दुर्वासनारूप वायुसे विचलित होकर द्वैतोन्मुख प्रवृत्तिके कारण खिन्न होने लगता है ।

सारांश यह है कि जिस प्रकार जपाकुसुमकी लालिमाका स्फटिकमें अध्यारोप होनेसे 'लोहितः स्फटिकः' ऐसा व्यवहार होता है फिरभी स्फटिक लौहित्यसे रहित ही है इसी प्रकार अन्तःकरणमें रहने वाले कर्तृत्वभोक्तृत्व एवं सुख-दुःखादि धर्मोंका आत्मामें अध्यारोप होनेके कारण मैं कर्ता, भोक्ता, सुखी, अथवा दुःखी हूँ ऐसे व्यवहार होते रहते हैं और आत्मा इस समय भी सब दोषोंसे रहित तथा एकमात्र सुख और ज्ञानस्वरूप ही है, इसलिए ज्ञानीको कभी भी आत्मामें सुखित्वादिका भ्रम नहीं हो सकता ॥ ७१ ॥

आत्माको सदा ही सुख-दुःखादिसे रहित सुनकर शङ्का हो सकती है कि यदि वह सर्वदा मुक्त ही है तो ज्ञानी और अज्ञानी में कोई भेद नहीं होना चाहिए। इसलिए ज्ञानके लिए प्रयत्न करना व्यर्थ ही है। इसका उत्तर आगे के दो पद्योंसे देते हैं:—

मनः शान्तद्वैतं पिबतु परमानन्दममृतं
अमद्वाऽस्मिन्द्वैते दुरतिगमदुःखानि सहताम्।
अहं त्वस्यास्वस्थामविरतमवस्थामविकलो
विलोके निःशोके निजमहिमनि स्थास्नुरचलन् ॥७२॥

मन द्वैतसे उपरत होकर चाहे परमानन्दस्वरूप अमृतका पान करे अथवा द्वैतरूप गहन वनमें विचरता हुआ दुःसह दुःखों का अनुभव करे। दोनों ही अवस्थाओंमें मैं अपने सकलशोक-रहित (स्वरूपमें) अविकृत और अचल रूपसे स्थित रहकर चित्तकी अवस्थाओंको देखता रहता हूँ ॥ ७२ ॥

न मे प्रलोपः सति सर्वसंप्लवे
न चोद्भवोऽभूदितरस्य तूदये।
उभावपीमाववलोकयन्नहं
जगद्गतावस्मि सदैकसम्प्रथः ॥७३॥

सकल प्रपञ्चका नाश होनेपर भी मेरा नाश नहीं होता और

उदय होनेपर मेरा जन्म नहीं हो सकता, मैं तो जगत्के उत्पत्ति और प्रलयका प्रकाश करता हुआ सदा एकरस ही रहता हूँ।

तात्पर्य यह है कि जैसे अपने घरमें अनन्त सुवर्णराशि गड़ी रहने पर भी अज्ञात रहनेके कारण दारिद्रयका दुःख भोगना ही पड़ता है और जब दैवज्ञोंके द्वारा उस निधिका ठीक-ठीक पता लग जाता है तो सारे क्लेशोंका अन्त हो जाता है। इसी प्रकार परमानन्दस्वरूप आत्मा नित्य प्राप्त होनेपर भी अज्ञात रहनेके कारण अप्राप्त-सा रहता है और इसीसे अज्ञानी जीवको जन्म-जरादि अनर्थोंका अनुभव करना पड़ता है, परन्तु जब शास्त्र, गुरु और परमेश्वरकी कृपासे जीवको अपने स्वरूपका यथावत् बोध हो जाता है तो इसके सारे दुःख समूल नष्ट हो जाते हैं और परमानन्दकी उपलब्धि होने लगती है। अतः ज्ञानके लिए उद्यम करना निष्फल नहीं है, ज्ञानी और अज्ञानीका इसके सिवा ज्ञान और अज्ञानके कारण भेद तो अत्यन्त स्पष्ट ही है, इसलिए उसके लिए कुछ विशेष कहनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ ७३ ॥

अब शङ्का होती है कि जिस प्रकार तार्किकादि सुख-दुःखादिको आत्माका धर्म मानते हैं उसी प्रकार यदि मान लें तो क्या आपत्ति है। इसमें तो 'मैं सुखी हूँ' 'मैं दुःखी हूँ' इस प्रकार आत्माके धर्मरूपसे सुख-दुःखका ग्रहण करने वाला प्रत्यक्षप्रमाण भी है। इसका समाधान अग्रिम दो पद्योंसे करते हैं:—

जगत्कथं मय्यथ सच्चिदात्मनि
स्थितिं लभतेदमसज्जडात्मकम् ।
तथापि भात्येव विभातु किं भवे-
न्नभस्तले चेन्नगरीव विभ्रमात् ॥७४॥

सच्चिदानन्दस्वरूप मुझमें यह असत् और जड़रूप जगत् कैसे स्थित रह सकता है? तथापि आकाशमें नगरके समान यदि इसका भ्रमसे मेरेमें भान होता है तो हो। इसमें मेरी कोई हानि नहीं है ॥ ७४ ॥

अहं जगत्यत्र न मय्यदस्तथा
वृथा विकल्पस्तु विजृम्भते यथा ।
न दाम भोगिन्यथ न स्रजि त्वसा-
वथापि सत्यानृतमेलनं मुधा ॥७५॥

यद्यपि न तो मैं इस जगत्में हूँ और न यह जगत् ही मेरेमें है, तथापि अविवेकके कारण दोनोंमें आधाराधेयभाव प्रतीत होता है। जिस प्रकार न तो सर्पमें रज्जु है और न रज्जुमें सर्प ही है फिर भी रज्जुतत्त्वके अज्ञानके कारण सत्य और मिथ्याका परस्पर तादात्म्य प्रतीत हो ही जाता है।

भाव यह है कि जिस प्रकार नेत्रोंसे एक बिलस्त प्रतीत होने पर भी ज्योतिषशास्त्रके आधारसे चन्द्रमण्डलका परिमाण अनेकों योजन मानना पड़ता है, उसी प्रकार प्रत्यक्षसे सुख, दुःख एवं

कर्तृत्वभोक्तृत्वादि धर्मोंसे युक्त प्रतीत होनेपर भी आत्माको 'तत्त्वमसि', 'अयमात्मा ब्रह्म', 'अस्थूलमनण्वह्रस्वम्', 'अशब्द-मस्पर्शमरूपमव्ययम्', इत्यादि शास्त्रके कारण सकल धर्मोंसे रहित मानना भी उचित है। तार्किकोंकी स्वतन्त्र कल्पना अपौरुषेय श्रुतिसे विरुद्ध होनेके कारण मानने योग्य नहीं है। यदि प्रत्यक्ष को ही प्रबलतम प्रमाण मान लिया जाय तो 'मैं चलता हूँ, बूढ़ा हूँ, मोटा हूँ, ब्राह्मण हूँ' इस प्रत्यक्ष अनुभवके कारण आत्मामें क्रिया, वृद्धता, स्थूलता, ब्राह्मणत्व आदि धर्मोंको भी मानना चाहिए। इस प्रत्यक्ष अनुभवको भ्रम मानना और ऐसे ही 'मैं कर्ता हूँ, भोक्ता हूँ' इत्यादिको प्रमाण मानना कहाँ तक संगत हो सकता है—इसका विवेचनकुशल और विज्ञजन स्वयं विचार द्वारा निर्णय कर सकते हैं, हम इस विषयमें अधिक कहना आवश्यक नहीं समझते। अतः श्रौत सिद्धान्तके अनुसार आत्मा-को सम्पूर्ण धर्मोंसे रहित, कूटस्थ और असङ्ग मानना ही जिज्ञासुओंके लिए हितकर है ॥ ७५ ॥

आत्मसाक्षात्कार होनेपर भी मनोनाशके बिना पूर्णतया जीवन्मुक्तिका आनन्द अनुभव नहीं हो सकता, इसलिए योगारूढ़ होनेके लिए प्रत्येक साधकको मनोनाश करना आवश्यक है। यह कहनेके लिए अगले श्लोकसे प्रपञ्चको मनोमूलक बताया जाता है:—

मनः स्फुरद् भाति जगत्तयाऽन्यथा

स्वतस्त्वबोधाद्दत एव केवलम् ।

अवाप्य बोधं प्रचकास्ति भासुरं
मनो भवद् ब्रह्म निरामयाभयम् ॥७६॥

आत्मतत्त्वके बोधसे पूर्व केवल चित्त ही जगद्रूपसे स्फुरित होकर अन्यथा प्रतीत हुआ करता है तथा ब्रह्म और आत्माके एकत्वका साक्षात्कार हो जानेपर वही मन शुद्धसच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्मसे अभेदरूपसे प्रकाशित होने लगता है।

भाव यह है कि जिस प्रकार 'अग्नि रहनेपर धूआँ भी रहता है और अग्नि न रहनेपर धूआँ नहीं रहता' इस अन्वय व्यतिरेकके द्वारा धूएँकी स्थिति अग्निके कारण निश्चित होती है, उसी प्रकार 'मनके रहनेपर ही जगत्की प्रतीति होती है मन न रहनेपर जगत्की प्रतीति भी नहीं रहती' इस अन्वय-व्यतिरेकके द्वारा जगत्प्रतीतिमें भी मनकी कारणता निश्चित होती है। भ्रम और प्रमा दोनों अन्तःकरणमें ही रहनेवाली होनेसे उनका बाध्य-बाधक भाव उचित ही है—यह भी इस श्लोकका तात्पर्य हो सकता है ॥ ७६ ॥

जब मन ही जगत्का कारण है तो मुमुक्षुको सबसे पहले मनोनाशके लिए ही प्रयत्न करना चाहिए, यह बात उपर्युक्त कथनका अनुवाद करते हुए आगामी पद्यसे कहते हैं:—

जगत्प्रलोपं जगुरुन्मनस्कतां
मनोऽवशेषं दृढमस्य मूलकम् ।

ततो मुमुक्षुः प्रयतेत सागमं
मनः प्रलोपेऽन्यदुपेक्ष्य साधनम् ॥७७॥

क्योंकि चित्तका अभाव ही जगत्का अभाव करनेवाला है और चित्तका अस्तित्व ही उसका मूल है इसलिए मुमुक्षुको अन्य साधनोंकी उपेक्षा करके सबसे पहले शास्त्रोक्त उपायोंसे मनका नाश करनेके लिए उद्यत होना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि जिस वृक्षका मूल पृथिवीमें है, वह कालान्तर में पुनः अंकुरित हो जाता है और जिसका मूल नष्ट हो चुका हो उसके पुनः अंकुरित होनेका भय नहीं रहता। इसी प्रकार इस जगत्का भी आत्यन्तिक अभाव करनेके लिए इसके मूलभूत चित्त को नष्ट कर देना चाहिए। चित्तके रहते हुए जगत्की पुनरुत्पत्ति का भय बना ही रहता है॥ ७७॥

इसी बातको प्रामाणिक मानते हुए चित्तशोधनका उपाय बतानेके लिए आगामी श्लोक कहा जाता है:—

ततः प्रयत्नैः परिशोधनीयता-
मयुष्य पूर्वं बभणुर्महाधियः।
न जातु जातं जगदस्ति सच्चितो-
ऽत्यसंशयं भावनमाहुरामृजाम् ॥७८॥

क्योंकि संसारका कारण चित्त ही है इसीलिए पूर्वाचार्योंने 'चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नाच्चिकित्स्यताम्' इत्यादि वाक्यों

द्वारा प्रयत्नपूर्वक चित्तशोधन का ही उपदेश किया है। सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मामें असत् जड़ और दुःखरूप जगत् तीनों कालमें नहीं हो सकता, ऐसा संशय और विपर्ययशून्य चिन्तन ही चित्त का शोधन करनेवाला है।

भाव यह है कि राग-द्वेष ही चित्तके मल हैं और वे कभी निर्विषय नहीं हो सकते। अतः उक्त चिन्तनद्वारा जब जगत्में असत्त्वबुद्धि स्थिर हो जायगी तो राग-द्वेषका कोई विषय न रहने के कारण वे प्रबल पवनद्वारा छिन्न-भिन्न किए बादलोंके समान स्वयं ही नष्ट हो जायँगे और चित्त निर्मल होकर परमात्म-साक्षात्कारके योग्य हो जायगा ॥ ७८ ॥

अशुद्ध मन जगत्का कारण है और वही शुद्ध होनेपर मुक्ति का निमित्त बनता है, यह बात केवल शास्त्रगम्य ही नहीं किन्तु प्रत्यक्ष अनुभव से भी सिद्ध है—यह अग्रिम पद्यसे कहते हैं:—

मनः सरागं मलमूत्रभाजनं
वपुः पवित्रं मनुतेऽमृतादपि ।
तदेव वैराग्यविशारदं भव-
द्धिरण्यगर्भं न तृणाय मन्यते ॥७९॥

काम एवं रागादिसे आक्रान्त चित्त मलमूत्रादि अपवित्र पदार्थों से परिपूर्ण शरीरको अमृतसे भी अधिक पवित्र समझता है और वही वैराग्यरूप शुद्धिसे युक्त होनेपर हिरण्यगर्भ तकको

तिनके के समान भी नहीं समझता। अतः पहले जो जगत्की सत्तामें मन की कारणता बतायी जाती है वह अनुपपन्न नहीं है, किन्तु अपने अनुभवसे सिद्ध होनेके कारण प्रामाणिक ही है ।।७९।।

यदि अनुभव और शास्त्रके द्वारा जगत् मनोमूलक ही सिद्ध होता है तो फिर मुमुक्षुको मनोनिरोधके लिए योगाभ्यास ही करना चाहिए, ज्ञानके लिए श्रवण, मनन, निदिध्यासनका अनुष्ठान तो क्षुधानिवृत्तिके लिए स्नान करनेके समान है—इस शंकाका उत्तर आगामी दो श्लोकोंसे देते हैं:—

अहो सदानन्दमयः सदोदितो
विभुश्चिदात्माऽप्यज एकलो ध्रुवः ।
अनायि सर्वेश्वर एव सन्नसन्-
मनःपिशाचैर्ननु दीनतामिव ।।८०।।

यह आत्मा सर्वदा आनन्दमय, नित्य, विभु, स्वयंप्रकाश, अविक्रिय, अद्वितीय, कूटस्थ और सर्वेश्वर होकर भी मन आदि पिशाचोंके सम्पर्कसे दीन-जैसे बना हुआ है ॥ ८० ॥

अहो अहो अद्भुतमेकमीक्षितं
गजोऽपि वन्यः खलु तन्तुना सितः ।
इदं तथा चापरमद्भुतं महद्
घटे भृतः सागर एव केनचित् ।।८१।।

बड़े आश्चर्यकी बात है कि जंगली हाथीको एक तन्तुसे बाँध लिया और इससे भी बढ़कर आश्चर्य यह है कि किसीने महासागर को घड़ेमें भर दिया।

भाव यह है कि जिस प्रकार गजको तन्तुसे बाँधना और समुद्रको घड़ेमें भर देना ये दोनों बातें असम्भव हैं वैसे ही नित्य विभु स्वयंप्रकाश आत्माका अन्त:करणमें प्रतिबिम्बित होना अथवा उससे अवच्छिन्न होकर जन्म-मरणादि सांसारिक धर्मोंका आश्रय बनना भी सर्वथा असम्भव है; परन्तु 'मैं दु:खी हूँ' वृद्ध हूँ, रोगी हूँ' इत्यादि प्रत्यक्ष अनुभवसे ऐसा भान अवश्य होता है। अत: असम्भव होनेपर भी प्रतीत होनेके कारण रज्जु-सर्पके समान आत्मामें आश्रित जगत् मिथ्या है और मिथ्याकी निवृत्ति बिना अधिष्ठान के ज्ञान हुए नहीं हो सकती, क्योंकि रज्जुमें कल्पित सर्प रज्जुज्ञानके बिना मनोनिरोध आदि सहस्रों उपायोंसे भी कभी निवृत्त नहीं हो सकता। अतः अनर्थकी निवृत्तिके लिए आत्माके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान ही आवश्यक है॥ ८१॥

यदि बन्धनकी निवृत्तिके लिए आत्मज्ञान ही पर्य्याप्त है तो फिर 'ततो मुमुक्षु: प्रयतेत सागमं मनः प्रलोपेऽन्यदुपेक्ष्य साधनम्' इत्यादि ग्रन्थसे मनोनिरोधका उपदेश करना व्यर्थ ही है। इसका उत्तर आगामी तीन पद्योंसे देते हैं:—

मनः प्रचारो विषयेषु मास्म भू-
दिति स्वरूपे मुहुरर्प्यतामिदम् ।

विना तथा ध्यानसमाधिसन्तति
मनोजयो नेत्यगदन्महर्षयः ॥८२॥

मनकी प्रवृत्ति विषयोंमें न हो, इसलिए उसे बार-बार अपने स्वरूपमें स्थित करना चाहिए। परन्तु दीर्घकाल तक ध्यान और समाधि के अभ्यासके विना स्वरूपमें चित्तकी स्थिति हो नहीं सकती-यह प्राचीन महर्षिगण सिद्ध कर चुके हैं। अतः इसके लिए ध्यान और समाधिकी भी आवश्यकता है ॥ ८२ ॥

मनोजयश्चेन्न कृतो न वासनाः
क्षयं च नीता यदि मूलतोऽखिलाः।
स्थितिस्तथा तत्त्वपदं न लम्भिता
वृथा प्रलापाय तदाऽऽगमा श्रमो ॥८३॥

यदि मनका जय नहीं किया, सम्पूर्ण वासनाओंका समूल नाश नहीं किया और आत्मतत्त्वमें चित्तको पूर्ण स्थिति नहीं की, तो श्रवण-मननादिका अनुष्ठान सब व्यर्थ प्रलापमात्र ही है ॥८३।

मनः सदा खेलति वासनाऽऽविलं
पराचि नित्यं प्रवणं तथेन्द्रियम्।
अथापि चेद् ब्रह्म वदन्ति निर्भया
अहो जनानां परिशोचनीयता ॥८४॥

वासनाओंसे बसा हुआ चित्त सदा विषयोंही में खेल रहा है और इन्द्रियगण सर्वदा अनात्मवस्तुमें ही तत्पर रहता है फिरभी निर्भय होकर ब्रह्मोपदेश कर रहे हैं—हाय ! जीवोंकी कैसी शोचनीय दशा है ?

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार भोजन करनेपर भी यदि शरीरमें शक्तिका अनुभव न हो तो भोजन करना ही व्यर्थ ही है, क्योंकि केवल तृप्तिके लिए ही भोजन नहीं होता, अपितु शरीरकी पुष्टि भी उसका प्रयोजन होती है। इसी प्रकार केवल दुःखकी निवृत्तिही अभीष्ट नहीं है, परमानन्दका भी अनुभव होना चाहिए और वह चित्तनिरोधक बिना हो नहीं सकता, इसलिए चित्तनिरोध भी आवश्यक है ॥८४॥

यदि चित्तनिरोधकी उपेक्षा करनी भी उचित नहीं है और आत्मज्ञान भी आवश्यक है तो क्या दोनोंको ही स्वीकार करना चाहिये ? इस आशंकाको इष्ट मानकर शान्त करनेके लिए आगामी श्लोक कहा जाता है:—

ततः परागर्थपराक्षवर्गकं
निरुद्ध्य यत्नेन मुमुक्षुरादितः ।
मनः समाधाय च मानतो मिते
विलोकयेत्स्वं गुरुदिष्टया दिशा ॥८५॥

आत्मबोध और मनोनिरोध दोनों ही आवश्यक होनेके कारण पहले मुमुक्षु अनात्मकी ओर जाने वाली इन्द्रियों को

यत्नपूर्वक रोककर शास्त्र प्रमाणसे निश्चित वस्तुमें चित्तको निरुद्ध करे और गुरूपदिष्ट मार्गसे आत्माका साक्षात्कार करे।

भाव यह है कि जिस प्रकार केवल जलसे कोई यन्त्र नहीं चलता और न केवल अग्निसे ही चलता है किन्तु जल और अग्नि दोनों मिलकर ही यन्त्रक्रियाके कारण बनते हैं, उसी प्रकार पूर्णकृतकृत्यताका निमित्त न केवल ज्ञान है और न केवल चित्तनिरोध, किन्तु दोनों मिलकर ही उसके प्रयोजक हैं। अतः प्रत्येक साधकको दोनों ही के अनुष्ठानमें तत्पर रहना चाहिए ॥८५॥

अब शङ्का होती है कि पहले आत्मज्ञानसे जो अनर्थकी निवृत्ति कही गयी है, वह कैसे हो सकती है, क्योंकि प्रत्येक प्राणी अपने आपको जानता हुआ भी अनेकों अनर्थोंसे व्याप्त ही दिखायी देता है। यदि आत्मज्ञानसे अनर्थकी निवृत्ति हो सकती तो सभी प्राणी सुखी हो जाते। यह भी कहा नहीं जा सकता कि उन्हें आत्मज्ञान नहीं है, क्योंकि सब जीव अपने आपको जानते ही हैं और अपना-आप ही आत्मा है; अतः वे सभी आत्मज्ञानी हैं और दुःखी भी हैं। इसलिए आत्मज्ञान अनर्थका निवर्तक नहीं हो सकता। इसका समाधान आगेके दो श्लोकों द्वारा करते हैं:—

मनोविलासानवलोकयन्विभु-
र्विराजतेऽयं हृदि सङ्गवर्जितः ।

न दुःखदीनो न च सौख्यवर्धितो
भवत्ययं चित्तदशाः प्रकाशयन् ॥८६॥

सर्वव्यापी परमात्मा मनोवृत्तियोंका साक्षी बनकर हृदयमें विराजमान है और चितके सुख दु खोंको प्रकाशित करते हुए भी असङ्ग होनेके कारण उसके दु खसे दुःखी और सुखसे सुखी नहीं होता, किन्तु सदा एक रस ही रहता है ॥ ८६ ॥

स्वान्ते विभान्तं प्रतिबोधमन्त-
र्ध्वान्तं नितान्तं प्रविदारयन्तम् ।
शान्तं न विन्देत जनो यदीमं
नान्तं व्रजेज्जन्मजरामृतीनाम् ॥८७॥

अपने अन्तःकरणमें उसकी वृत्तियोंको साक्षीरूपसे प्रकाशमान और हृदयके अन्धकारको समूल नष्ट करनेमें समर्थ शान्तस्वरूप परमात्माको जबतक पुरुष प्राप्त नहीं करेगा तबतक वह जन्म-जरा मृत्युस्वरूप अनर्थमय संसारसे मुक्त नहीं हो सकेगा ।

अभिप्राय यह है कि 'तरति शोकमात्मवित्' विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः, 'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः' मात्वा 'धीरो हर्षशोकौ जहाति' निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति' इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि आत्मज्ञानसे अनर्थकी निवृत्ति होती है और प्रत्येक प्राणी अपने आपको

जानता है यह भी निर्विवाद है । इसलिए दोनों बातोंके प्रामाण्यकी रक्षाके लिए कुछ व्यवस्था करना आवश्यक है, जिससे कि दोनों प्रमाणोंमें विरोध न रहे । अतः यों मानना चाहिये कि आत्माका सामान्यांशरूप चैतन्य प्रत्येक प्राणी को ज्ञात है और शास्त्र जिस आत्माके ज्ञानसे सकलअनर्थोंकी निवृत्ति कहता है वह अपरिच्छिन्नत्व आनन्दरूपत्व आदि विशेषणों वाला आत्माका विशेष स्वरूप है, जिसका उल्लेख साक्षी, ब्रह्म, परमात्मा आदि अनेकों शब्दोंसे भी किया जाता है । ऐसा मानना ही न्याय्य है, क्योंकि यह देखा ही जाता है कि सामान्यरूपसे अग्नि सर्वत्र वर्तमान रहते हुए भी वह दाहप्रकाशरूप प्रयोजन की पूर्ति नहीं कर सकता वही अग्नि जब विशेषरूप में आविर्भूत होता है तो दाह भी करता है और प्रकाश भी । इसी प्रकार आत्मा सामान्य रूपसे ज्ञात हुआ भी अनर्थनिवृत्त्यादि प्रयोजनका साधक नहीं है । वही जब आनन्दरूप और अपरिच्छिन्नत्वादि विशेषरूपसे ज्ञात होगा तब अवश्य शास्त्रोक्त फलकी प्राप्ति करनेवाला होगा । इसीको शास्त्र ब्रह्मज्ञान आत्मसाक्षात्कार आदि अनेकोंनामोंसे कथन करता है । अतः आत्मज्ञान के लिए प्रयत्नशील रहना प्रत्येक मुमुक्षु का कर्तव्य है ॥८७॥

अस्तु, यदि परमात्माकी प्राप्ति और आत्मप्राप्ति एक ही चीज है तो आत्मा सदा प्राप्त होनेके कारण ईश्वर भी नित्य प्राप्त ही है । तो भी उसके लिए चेष्टा करना व्यर्थ है । इसका उत्तर आगे के दो पद्योंसे देते हैं:—

आत्मा च नामाथ च लम्भनीयो
जज्ञुर्बुधा विप्रतिषिद्धमेतत् ।
तस्मादसौ लब्धतयैव लभ्यः
कण्ठस्थचामीकरसंनिकाशः ॥८८॥

यद्यपि नित्यप्राप्त होने के कारण आत्मा को प्राप्तव्य कहना सर्वथा विरुद्ध है तथापि आत्मा प्राप्तव्यः' इसका अर्थ है कि 'प्राप्तत्वेन रूपेणैवात्मा निश्चेतव्यः' अर्थात् आत्मा नित्यप्राप्त है—इस प्रकार ही निश्चय करना, जिस प्रकार कि गले में पड़े हुए हार की विस्मृति होने पर 'हार मेरे कण्ठ में है' इस प्रकार का निश्चय होना ही उसकी प्राप्ति है ।।८८॥

प्राप्त वस्तु में भी औपचारिक अप्राप्तत्व हो सकता है, यह कहनेके लिए आगे का श्लोक है:—

अमुं निधिं गाढमहो जनानां
निगूढमन्तर्हृदि दीप्यमानम् ।
न जानते मोहशिलाऽऽवृतत्वा-
दमी ततो दीनदशामवापुः ॥८९॥

मनुष्योंके हृदयके गम्भीर स्थलमें छिपे हुए उस देदीप्यमान आत्मनिधिको, अज्ञान-शिलासे आवृत होनेके कारण, न जानकर ही सब लोग दुःखका अनुभव कर रहे हैं ।

भाव यह है कि यदि सचमुच ही गलेका हार किसी कारण से गलेसे निकलकर अज्ञात रूपसे गिर जाय तो उस आभूषण-वाले पुरुषको बड़ा ही दु ख होता है और फिर खोज करनेपर ईश्वरके अनुग्रहसे यदि वह खोया हुआ सोनेका आभूषण मिल जाय तो उस व्यक्तिके शोक-दुःखादि सब दूर हो जाते हैं। इसी प्रकार हारके गलेमें रहते हुए ही यदि 'हार कहाँ गिर गया' ऐसा विपरीत निश्चय होजाय तो भी पहले जैसा दुःख ही होता देखा जाता है और जब किसीके कहने से अथवा स्वयं ही उसके गलेमें होने का निश्चय हो जाता है तो वे शोक-दुःखादि सब दूर हो जाते हैं। इसलिए औपचारिक रूपसे दु.खजनकत्व रूप धर्मको लेकर विपरीत निश्चय को अप्राप्ति तथा दुःखनिवतकत्वरूप धर्म की दृष्टि से यथार्थ निश्चय को प्राप्ति कहा जा सकता है। अतः आत्माका अज्ञान ही सारे दुःखों का कारण होने से आत्मा की अप्राप्ति है और सम्पूर्ण अनर्थों का निवर्तक होने से उसका यथार्थ ज्ञान ही उसकी प्राप्ति है। इसलिए जहाँ आत्माकी प्राप्ति कही जाय वहाँ उसका अर्थ आत्म ज्ञान ही समझना चाहिए। इसलिए 'लब्धतयैव लभ्यः' यह उक्ति बहुत ठीक है ॥८६॥

क्योंकि परमानन्दरूप आत्मा की उपलब्धि उसके ज्ञान में ही मानी जाती है इसलिए:—

विद्यादतस्तूर्णमिमं विवित्सु-

र्व्यपावधिं मोदमनन्तलोके ।

त्यक्त्वेतरत्कर्म वृथा वितानं
विधूय कामान् मृगतृष्णिकाभान् ॥६०॥

निरवधि सुखको प्राप्त करनेकी इच्छावाला पुरुष व्यर्थ आडम्बरवाले कर्मोंको और उनसे प्राप्त होनेवाले मरुमरीचिका के जल सदृश स्वर्गादि विषयोंको छोड़कर अपनी हृदयकन्दरामें सर्वदा भासमान परमात्माका साक्षात्कार करे। तभी संसारका बीजभूत अज्ञान नष्ट होगा और तभी इसको अचल पदकी प्राप्ति होगी ॥६०॥

बहुतसे पुरुषोंका आक्षेप है कि जिसप्रकार कर्म अथवा उपासनारूप वैदिक साधनोंसे प्राप्त होनेवाला स्वर्ग सुखादि फल लोकान्तरोंमें ही जाकर भोगा जाता है उसी प्रकार ज्ञानरूप वैदिकसाधनसे मिलनेवाला मोक्षरूप फल भी लोकान्तरमें ही भोगा जाना चाहिए। ऐसी स्थितिमें कर्मफल के समान मुक्ति भी अनित्य होनेके कारण प्राप्त नहीं हो सकती। इस आक्षेपका उत्तर देने के लिए आगामी श्लोक है:—

अयमहमखिलेश्वरश्चिदात्मा
किमिह मयाऽनुपलब्धमस्ति लोके।
सति जडजगतां मयि प्रचेष्टा
तदहमहो जगदन्तरात्मभूतः ॥६१॥

मैं सारे जगत्के स्वामी चिदात्मासे अभिन्न हूँ; अतः संसारमें मुझे कौन वस्तु अप्राप्त हो सकती है ? सम्पूर्ण जड़ जगत् की चेष्टा मेरी ही सत्तासे होती है, इसलिए जगत्का अन्तर्यामी और प्रेरक मैं ही हूँ। भाव यह है कि 'तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्' इस श्रुतिके अनुसार सर्वात्मभाव ही मोक्ष है और विद्वानको इसका अपने जीवनकालमें ही अनुभव हो जाता है; इसलिए यह लोकान्तरमें भोगनेयोग्य नहीं हो सकता। वैदिक साधनजन्य स्वर्गादि यद्यपि लोकान्तरमें भोगने योग्य होते हैं तथापि कारीरीयागादि साधनोंसे होनेवाले वृष्टि आदि फल इसीलोकमें उपभोग्य देखे गये हैं। इसलिए ऊपर जो हेतु दिया गया है वह व्यभिचारी है और इस लोकमें भोगकी अयोग्यतारूप उपाधिके कारण सोपाधिक भी है। अतः इस हेतुसे मुक्तिमें परलोकभोग्यत्व और अनित्यत्वादि सिद्ध नहीं किए जा सकते। तथा 'न स पुनरावर्तते' इत्यादि श्रुतिके अनुसार जिसे नित्यरूपसे निश्चय किया है वह मोक्ष अनुपादेय नहीं हो सकता ॥ ६१ ॥

जिस प्रकार विद्वान्को यहीं पर सर्वात्माका अनुभव होता है वैसे ही भयदुःखादिकी निवृत्ति भी उसे यहीं अनुभूत होती है यह बात आगेके दो पद्योंसे कहते हैं:—

जगदिदमखिलं मयि प्रभातं
न मदतिरिक्तमतोऽण्वपि प्रलोके।
व्यपगतमभवद् भयं समस्तं
भयमितरभ्रमभासितं यदूचुः ॥६२॥

यह सम्पूर्ण जगत् अधिष्ठानभूत मेरेमें ही प्रतीत होता है। इसलिए मुझसे भिन्न संसारमें अणुमात्र भी नहीं है। अतः द्वैतभ्रमसे प्राप्त हुआ सारा भय आज नष्ट हो गया।

भाव यह है कि 'उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति' 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' इत्यादि श्रुतियोंसे तथा प्रत्यक्षसे भयका हेतु द्वैत दर्शन ही है क्योंकि जागरित कालमें द्वैतदर्शनसे भय और सुषुप्तिके समय द्वैतदर्शनाभावसे भयका अभाव सभीको अनुभव-सिद्ध है। अतः अद्वितीय आत्मतत्त्वके ज्ञानसे मिथ्याद्वैतदर्शनका अभाव होनेपर उससे होनेवाले भयका अभाव होना सर्वथा उपपन्न ही है ॥ ६२ ॥

भयाभावका प्रतिपादन करके दुःखाभावका प्रतिपादन करने के लिए आगेका श्लोक कहा जाता हैः—

सुखमनन्तमिदं जगतामहं
मयि तु दुःखलवोऽपि कथं भवेत्।
न खलु लोकविलोकनके रवा-
वनुपधानतमः समदर्शि कि ॥६३॥

जब मैं समस्त जगत्को आनन्दित करनेवाला और अनन्त सुखस्वरूप हूँ तब मेरेमें दुःखका बिन्दु भी कैसे सम्भव हो सकता है। अपने प्रकाशसे सारे संसारको प्रकाशित करनेवाले सूर्यमें क्या कभी किसीने वास्तविक अन्धकार देखा है?

भाव यह है कि जिस प्रकार प्रकाशस्वरूप सूर्यमें उसके विरुद्ध अन्धकार सत्य नहीं हो सकता। हाँ अज्ञान दशामें अन्तःकरणमें रहनेवाले दुःखका आत्मामें आरोप हो सकता है, परन्तु ज्ञानकालमें वह भी सम्भव नहीं है। इसलिए ज्ञानी सर्वदा सुख का ही अनुभव करता है ॥ ६३ ॥

अस्तु, इस जन्ममें भले ही भय और दुःख न हों तथापि जन्मान्तरमें तो हो ही सकते हैं; इसलिए ज्ञान परम पुरुषार्थका हेतु नहीं हो सकता इस शङ्काका समाधान आगामी श्लोकसे कहते हैं:—

कामपाशपरिणद्धमानसो
जन्तुरेष जगतीह जायते ।
शारदाभ्रपरिशुद्धचेतसो
ब्रह्मणश्च मम जन्म कीदृशम् ॥६४॥

कामरूपी पाशमें चित्तके बँधनेपर ही जीवको संसारमें जन्म लेना पड़ता है। शरत्कालीन मेघोंके समान निर्मलचित्त होनेके कारण ब्रह्मस्वरूप मेरा जन्म नहीं हो सकता।

भाव यह है कि जन्मका कारण काम है 'स कामभिर्जायते तत्रतत्र' इति श्रुतेः। और कामका कारण विषयोंमें सत्यत्वभ्रम है। आत्मबोध होनेपर विषयोंमें मिथ्यात्वनिश्चय हो जानेसे काम न होनेके कारण विद्वान्‌का जन्म होना सम्भव नहीं है।

अतः दुःखका समूल ध्वंस करनेके कारण आत्मज्ञान परम-पुरुषार्थ निर्बाध साधन है ॥ ९४ ॥

अब शङ्का होती है कि यदि जन्मका कारण काम हो तभी तो उसकी निवृत्तिसे जन्मकी निवृत्ति हो सकती है, परन्तु जन्मका कारण तो वासनाएँ हैं। अतः कामनिवृत्ति मात्रसे जन्मका अभाव नहीं हो सकता। इसका उत्तर अगले श्लोकसे दिया जाता है:—

या बिभर्ति जगदेतदद्भुतं

वासना वितथभोगभासुरा ।

जीवलोकमृगवागुराधुना

सावबोधबलतो व्यशीर्यत ॥९५॥

जो मिथ्या विषयोंके द्वारा पुष्ट होनेवाली और जीवगण रूप मृगोंको बाँधनेके लिए जालके समान तथा इस जगत्की स्थितिमें प्रधान कारण हैं वे वासनाएँ भी आत्मज्ञानका उदय होनेसे नष्ट हो गयीं।

भाव यह है कि वासनाका मूल विषयोंमें रम्यत्वबुद्धि है, आत्मज्ञानसे विषयोंमें तुच्छत्वबुद्धि हो जानेपर उनमें रमणीयता का निश्चय नष्ट हो जानेसे उससे होनेवाली वासनाएँ भी स्वयं नष्ट हो जाती हैं। इसलिए यदि जन्मको वासनामूलक भी माना जाय तब भी ज्ञानीका जन्म होना असम्भव है, क्योंकि उसके

जन्मकी हेतुभूत वासनाएँ ज्ञानाग्निसे भस्म हो जाती हैं। इसलिए ज्ञानकी परमपुरुषार्थसाधनता पूर्ववत् बनी ही रहती है ॥९५॥

मुमुक्षु अवस्थामें साधनोंके अनुष्ठानसे अनेकों क्लेश भी उठाने पड़ते हैं; परन्तु ज्ञान होनेपर विद्वान् को उन सबका अभाव अनुभव होता हैं—यह बात अग्रिम दो पद्योंसे कही जाती है:—

वीतशोकमतिलोकमेककं
ज्योतिरेव जगदन्तरीक्ष्यते ।
न स्म भाति न च भाति वस्तुनो
भास्यतीदमिह विश्वडम्बरम् ॥९६॥

शोक-मोहादि समस्त संसार धर्मोंसे रहित एक अलौकिक चैतन्यज्योति ही जगत्के अन्दर अनुस्यूत दिखायी देती है और इसीसे इस जगदाडम्बरका त्रैकालिक अत्यन्ताभाव हो गया है ॥९६॥

उदगादयं प्रचुरबोधमयो
रविरस्तमायदखिलं च तमः ।
मिहिका व्यलास्तवितथप्रतिभा
व्यशदायताथ चिदनन्तनभः ॥९७॥

संशय-विपर्ययशून्य सुदृढ़ बोधरूप सूर्यका उदय होनेसे अज्ञान

रूप अन्धकार नष्ट हो गया और मिथ्या-प्रतीतिरूप कुहिरा दूर होकर चैतन्यरूप आकाश अत्यन्त निर्मल हो गया।

भाव यह है कि पाकक्रिया हो जानेपर जैसे उसके साधन अग्नि और ईंधन आदिका त्याग हो जाता है वैसे ही अन्तःकरण स्वच्छ होकर ज्ञान हो जानेपर फिर उसके लिए साधनोंके अनुष्ठानकी भी अपेक्षा नहीं रहती। इसलिए विद्वान्में साधन-जनित क्लेश भी नहीं रहते ॥ ६७ ॥

शोक मोहादिके अभावके समान विद्वान्को ब्रह्मानन्द भी अपरोक्ष रहता है। यह बात अग्रिम तीन पद्योंमे कहते हैं:—

न जुगुप्सतेऽथ हृदयं तु मना-
गभिनन्दतीह न च किञ्चिदपि।
प्रतिपित्सते न किमपि स्वपरं
रमतेऽनपेक्षमपसीमसुखे ॥६८॥

मेरा हृदय न तो किसी पदार्थसे घृणा करता है और न किसी में प्रेम रखता है तथा आत्मा वा अनात्मा किसी भी वस्तुकी प्राप्तिकी इच्छा नहीं रखता, किन्तु सर्वदा निरवधिक आनन्द ही में मग्न रहता है ॥ ६८ ॥

प्रकटत्वमापदियमन्तरहो
परितृप्तिरन्तविधुराऽविषया।

अविलोलमेतदिह हन्त मनो
लवणस्य भित्तमिव लीनमभूत् ॥९९॥

अनन्त तथा निर्विषय आन्तर शान्तिका आविर्भाव हुआ और यह मन निश्चल होकर जलमें लवणपिण्डके समान उसीमें लीन होगया ॥ ९९ ॥

प्रपञ्चपरिचर्चया विगतमेव दुर्धर्षया
व्यभासि परहर्षयाऽमितसुधाऽभिसंवर्षया
गभीरमवगाढया किमपि तत्त्वमाबाढया
विलीय मिलितं धिया सपदि तत्र संपित्सया ॥१००॥

प्रपञ्चके विषयमें जो अत्यन्त दुर्दम्य सङ्कल्प थे वे शान्त हो गये, अनन्त हर्ष प्रदान करनेवाली परमामृतकी वृष्टिका आरम्भ हो गया और वह किसी अकथनीय तत्त्वमें दृढताके साथ जटिल होकर उसीमें मिलनेकी इच्छासे बुद्धि भी विलीन होकर उसीके साथ एकरस होगयी।

तात्पर्य यह है कि जिस सुखको पुरुष सदैव चाहता है वह इसका स्वरूप ही है, क्योंकि सब महान् पुरुषोंका यही अनुभव है। उसकी अप्रतीतिमें केवल चित्तकी बहिर्मुखता ही कारण है। यदि अधिकारी शास्त्रोक्त साधनोंके अनुष्ठानसे अपने चित्तको अन्तर्मुख करले तो वह शीघ्र ही आत्मसुखका अनुभव

कर सकता है। अन्धकारसे भरे हुए घरमें रखी हुई वस्तुओंकी प्रतीति केवल अन्धकारको हटानेसे ही हो जाती है। इसी प्रकार अन्तर्मुख चित्त इसी शरीरमें परमानन्दका अनुभव कर लेता है, कहीं लोकान्तर या देहान्तरमें जाने की आवश्यकता नहीं होती। अतः मुमुक्षुवर्गको शास्त्रीय साधनोंके अनुष्ठानमें ही दत्तचित्त रहना चाहिए ॥१००॥

यद्यपि शास्त्रमें अनेकों साधनोंका उपदेश किया गया है, तथापि अभ्यास और वैराग्यमें सबका अन्तर्भाव हो जाता है। अतः साधकोंको सुगमतासे समझानेके लिए उक्त साधनोंके अनुष्ठानकी आवश्यकता आगेके छ पद्योंसे कही जाती है। उस में पहले आगामि पद्यसे वैराग्यकी उपयोगिता कहते हैं:—

परिहरन्नखिलं लभते पुमा-
नभिलषन्न च विन्दति किञ्चन।
यदमृतत्वमवादिषुरागमा-
स्त्यजनतः सकलस्य समस्तताम् ॥१०१॥

इच्छा करनेसे पुरुषको कुछ भी नहीं मिलता और त्याग करनेसे सब कुछ प्राप्त हो जाता है, क्योंकि परम दुर्लभ सर्वात्मभावरूप मोक्षनामक अमृतत्व भी सबके त्यागसे ही प्राप्त होता है। इसमें 'त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः' यह शास्त्र प्रमाण है॥ १०१ ॥

इस प्रकार वैराग्यकी आवश्यकता बताकर चित्तनिरोधके लिए अभ्यासका प्रतिपादन करनेके विचारसे पहले तीन श्लोकों द्वारा पूर्वपक्षीकी शंका का अनुवाद करते हैं:—

बहुशः परिचिन्तिता श्रुति-
र्ननुगीता न न वा विचारिता ।
मनसे तु तदेव रोचते
यदमुत्रानिशवर्ज्यमीरितम् ॥१०२॥

श्रुतिका भी बहुत मनन किया तथा गीताके विचारमें भी कोई कमी नहीं रक्खी, तो भी मनकी तो उन्हीं पदार्थोंमें रुचि है जिनका कि शास्त्रोंमें निषेध है ॥ १०२ ॥

मनः क्षणं धावति चन्द्रमण्डलं
क्षणं विशत्येतदहो रसातलम् ।
क्षणेन पर्यटच्च दिगन्तचक्रकं
द्रुतं समक्ष्णोति समग्रभूतलम् ॥१०३॥

कभी तो मन स्वर्ग प्राप्तिके लिए पुण्यकर्मोंकी ओर दौड़ता है और कभी नरकमें डालनेवाले पापोंकी ओर जाता है तथा कभी मनुष्यलोकमें ही उन्नति करनेके लिए साधारण कर्म करने लगता है। इस प्रकार थोड़े ही समयमें यह सारे ब्रह्माण्डमें फैल जाता है ॥ १०३ ॥

अदो मनो जय्यमगासिषुर्बुधा
मुधा प्रलापानितरान्न किं जगुः ।
वियद् गदाभिः परिचूर्ण्य सर्वतो
महोदधौ क्षेप्यमहो जना इति ॥१०४॥

पूर्व ऋषियोंने जो चञ्चल चित्तको भी जय होनेके योग्य कहा है तो इसी प्रकारके 'गदाओंसे आकाश का चूरा करके समुद्रमें फैंक दो' किन्हीं अन्य व्यर्थ प्रलापोंका उल्लेख क्यों नहीं किया ?

भाव यह है कि जिस प्रकार आकाशको गदासे चूर्ण करके समुद्रमें फेंकना एक असम्भव विषय है। इसी प्रकार स्वभावसे चञ्चल और अनादि कालसे विषयोन्मुख रहनेवाले चित्तको अपने वशमें रखना भी सर्वथा असम्भव है। अतः ऐसा कहनेवाले ऋषि-मुनियोंके वाक्य प्रमाण नहीं हो सकते ॥ १०४ ॥

उक्त आक्षेपका समाधान करनेके लिए आगेके दो पद्य हैं:—

किमत्र चित्रं यदि वासमग्रके
सति प्रयत्ने पुरुषस्य दुर्दमे ।
प्रसत्तिमासेदुषि सर्वयन्तरि
प्रभौ नभः किं कतमद्दुरासदम् ॥१०५॥

इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि यदि पुरुष पूरी तरह प्रबल प्रयत्न करे तो परमात्माको प्रसन्न करके चित्तको जय कर सकता है, क्योंकि परमेश्वर की सहायता से आकाश को चूर्णित

करना क्या, इससे भी दुष्कर कार्य सरलता से किये जा सकते हैं ॥ १०५ ॥

ततो न हेया धृतिरुत्तमा मना-
गनादिदुर्वासनयाऽपि दूषितम् ।
मनः पुरा शुध्यति पुंस्प्रयत्नतो
निदर्शनं स्पर्शमयश्च पश्यत ॥१०६॥

इसलिए पुरुषको चाहिए कि धैर्यका त्याग न करे, क्योंकि अनादि दुर्वासनाओंसे दूषित मन भी पुरुषप्रयत्नसे शुद्ध हो सकता है। इसमें लोह और स्पर्शमणिका दृष्टान्त प्रसिद्ध है।

भाव यह है कि जैसे लोहा अनादि काल से श्यामतादि दोषोंसे युक्त होनेपर भी स्पर्शमणि (पारस) की सहायतासे क्षणभरमें सारे दोषोंसे शून्य होकर सुवर्ण बन जाता है इसी प्रकार अनादि कालसे रागद्वेषादि दोषोंसे दूषित भी अन्तःकरण परमात्माकी सहायतासे बहुत शीघ्र शुद्ध होकर आत्मज्ञानोपयोगी हो सकता है ॥ १०६ ॥

अब ग्रन्थकी समाप्तिमें पूर्वोक्त अर्थका उपसंहार करनेके लिए आगेके दो पद्य कहे जाते हैं:—

अहो दुराशारशनाभिपाशितो-
ऽस्म्यहं सदा मर्कटवत्प्रनर्तितः ।
त्वया विभो हे जगदीश सम्प्रति
प्रमुञ्च मां त्वा प्रणमामि भूरिशः ॥१०७॥

हे विभो ! हे जगदीश्वर ! तुमने दुराशारूप रस्सीमें

बाँधकर बन्दरके समान मुझसे तरह-तरहके पुण्यपापोंका अनुष्ठान रूप नृत्य कराया है। अब मेरी यही प्रार्थना है कि मुझे इस बन्धनसे मुक्त करदो ॥१०७॥

पतिः पशूनामसि वेदघोषितः
कुतः पशुं मामपि नैव पासि भोः ।
न शक्यते चेत्पतिभावमुत्सृजे-
रहं पशुत्वं विजहामि ते विभो ॥१०८॥

भगवन् ! आपको वेदों में पशुपति कहा है, जिसका अर्थ है पशुका पालन करने वाला, तो फिर आप पशुरूप मेरी रक्षा क्यों नहीं करते ! यदि मेरी रक्षा नहीं कर सकते तो अपने पशुपति नाम को त्याग दो और मैं भी आपके प्रति अपना पशुनाम त्यागता हूँ ।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार दुर्जय शत्रु को पराजित करने के लिए प्रबल पुरुषकी सहायता की अपेक्षा होती है उसी प्रकार संसाररूपी दुर्जय शत्रुको जय करने के लिए सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की प्रसन्नताका सम्पादन करना आवश्यक है। अतः प्रत्येक मोक्षार्थी को भगवत्परायण होना चाहिए ।।१०८।।

सकाम पुरुष भगवद्भक्ति का पूरा फल प्राप्त नहीं कर सकता। अतः मोक्षकी इच्छासे ही भगवद्भक्ति फलदायिनी होती है। यह बात अन्तिम श्लोकसे कहते हैं:—

अलं फलेनेह सुपर्वसम्पदा
कृतं विरिञ्चेः पदवीक्षयाऽपि मे ।
न विष्णुधिष्ण्यं न च भर्गभूमिका-
मथाद्रिये ब्रह्म भवामि निर्भयम् ॥१०९॥

देवलोक स्वर्गकी प्राप्तिसे मुझे कुछ प्रयोजन नहीं है, ब्रह्मलोक की भी मैं इच्छा नहीं रखता, विष्णुलोक तथा शिवलोक में भी मेरी श्रद्धा नहीं है। परन्तु 'निर्भय ब्रह्मपद मुझे प्राप्त हो' यही मेरी सदा कामना रहती है। इस प्रकार निष्काम होकर जो पुरुष भगवान्‌का भजन करता है वह अन्तःकरणकी शुद्धि द्वारा आत्मसाक्षात्कार प्राप्तकर परमपदका अधिकारी हो जाता है। इसलिए भगवद्भक्ति ही मोक्षका सर्वोत्तम साधन है। अतः सबको इसका आश्रय लेना चाहिए। यही सारे वेद-शास्त्र तथा इस ग्रन्थका तात्पर्य है ॥१०९॥

ये स्युर्गुणाः कतिचिदत्र गुरोरिमे स्यु-
र्दोषा ममैव सकला न तु ते गुरूणाम् ॥
अम्भोदमुक्तभुजगास्यगते विषत्वं-
नीरे यदेतदुरगस्य न वारिदस्य ॥१॥

ॐ शान्ति ! शन्ति !! शान्ति !!!

॥ इति श्रीवेदान्तरत्नाकरः सव्याख्यः समाप्तः ॥